भक्तिकालीन साहित्य में सगुण-निर्गुण के बीच विचारधारात्मक संघर्ष का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध
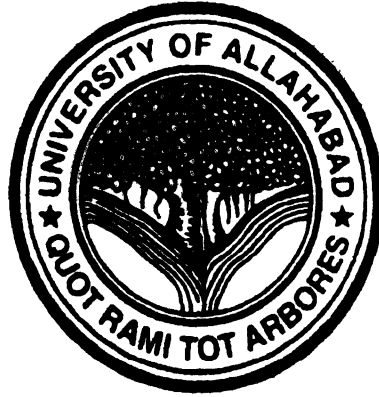
प्रस्तुतकर्ता
यशवन्त यादव

निर्देशक
डॉ0 सूर्यनारायण
(प्रवक्ता)

हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

वर्ष - 2002 ई0

-: विषयानुक्रम :-

		पृष्ठ
	भूमिका	I - VI
प्रथम अध्याय:	**भक्ति आन्दोलन का उद्भव एवं विकास** (भक्ति-आन्दोलन की ऐतिहासिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में ग्रियर्सन, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा, गजानन माधव मुक्तिबोध, डा0 नामवर सिंह, इरफान हबीब के मतों का विश्लेषण)	01 - 36
द्वितीय अध्याय:	**भक्तिकालीन समाज की सांस्कृतिक संरचना** (मध्यकालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक व आर्थिक परिस्थितियाँ एवं मध्यकालीन संस्कृति का प्रभाव तथा आदान-प्रदान का स्वरूप)	37 - 60
तृतीय अध्याय:	**भक्ति साहित्य का परिचय** (भक्ति साहित्य के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध एवं डा0 नामवर सिंह के विचार) **निर्गुण एवं सगुण साहित्य का परिचय:** (संत साहित्य, सूफी साहित्य, कृष्ण भक्ति साहित्य, रामभक्ति साहित्य)	61 -112

चतुर्थ अध्याय: **सगुण साहित्य का समाजशास्त्रीय मूल्यांकन** 113-153

(सगुण-निर्गुण के विभाजन का आधार सगुण विचारधारा के मुख्य तत्व, सगुण विचारधारा में व्यक्त मूल सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण ---- 'वर्णाश्रम', 'स्त्री प्रश्न', 'सामाजिक-धार्मिक पाखण्ड एवं अंधविश्वास', 'कलिकाल एवं रामराज्य की अवधारणा')

पंचम अध्याय: **निर्गुण साहित्य का समाजशास्त्रीय विश्लेषण** 154-199

(निर्गुण साहित्य में व्यक्त मूल सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण ----- सगुण-साकार की आराधना से उत्पन्न विकृतियों का विरोध, वेद-शास्त्र, पुराणों की उपेक्षा, अवतारवाद का विरोध, धर्मस्थल एवं मूर्तिपूजा का विरोध, अंधविश्वासों एवं वाह्याडम्बरों का विरोध, हिन्दू-मुसलमान : साम्य भावना, कथनी-करनी में साम्यता पर बल, कबीर का पुत्रबोध: सामाजिक न्याय एवं समता के संदर्भ में, कबीर की प्रगतिशीलता)

षष्ठ अध्याय: **सगुण एवं निर्गुण काव्यधारा के बीच मूल संघर्ष का स्वरूप** 200-253

(ब्रह्म का स्वरूप : निर्गुण-सगुण की मान्यता, उपासना पद्धति : निर्गुण-सगुण की मान्यता,

भूमिका
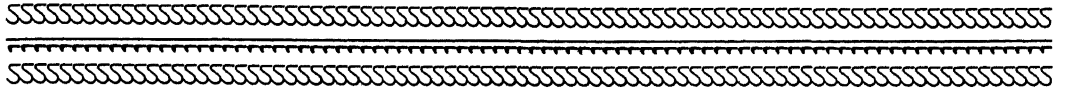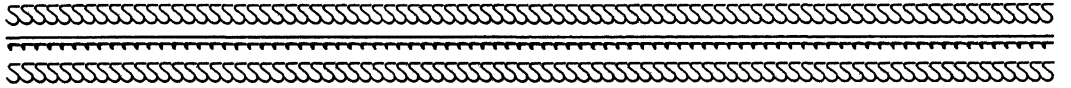
-: भूमिका :-

भक्ति - आंदोलन भारतीय सांस्कृतिक धारा का एक महत्वपूर्ण पड़ाव है । मध्यकाल में तीन शताब्दियों से भी अधिक समय तक समूचे देश को आंदोलित करने वाले इस सांस्कृतिक आंदोलन ने, यूरोप के धर्म सुधार आंदोलन के समान ही समाज के अब तक स्थापित आदर्शों तथा मूल्यों की गहरे तक जमी जड़ों को हिला दिया । दक्षिण से लेकर उत्तर तक समूचे भारत में इसे व्यापक समर्थन हासिल हुआ तथा हिन्दी साहित्य में सदियों बाद जनता की मुक्ति की आकांक्षाएँ, उनके संघर्ष व स्वप्न अभिव्यक्ति पा सके । भक्ति आन्दोलन का मूल धरातल भले ही भक्ति की दार्शनिक अवधारणा रही है; परन्तु उसका परम लक्ष्य 'मोक्ष' केवल 'व्यक्तिगत मुक्ति' की सीमित कामना नहीं है; उसमें सामाजिक मुक्ति का बीज की अंकुरित होता है । भक्ति आंदोलन ने पहली बार उपेक्षित, शोषित और अधिकार वंचित जनता (व वर्गों) की आवाज को साहित्य में 'मुख्य - स्वर' के रूप में प्रभावशाली ढंग से स्थापित किया, जिसे सम्पूर्ण सामंती सांस्कृतिक आदर्शों पर 'लोक मूल्यों' के उत्थान के रूप में देखा जा सकता है । कवियों, भक्तों का 'आत्म' इतना व्यापक और दृढ़ था कि 'सीकरी की सुविधाएँ' उन्हें 'हरिनाम' के आगे आकर्षित न कर सकीं । इसीलिए वे अपने युग की सभी जड़ताओं पर निर्ममतापूर्वक प्रहार करते हैं । क्योंकि, उन राजदरबार की सीमित शक्ति की जगह जनता के समर्थन की असीमित शक्ति का आधार प्राप्त था । भक्ति - आंदोलन में इसीलिए 'सामाजिक - प्रतिरोध' का स्वर केन्द्रीय स्वर के रूप में सुनाई देता है । डा0 मैनेजर पांडेय ने भक्ति आंदोलन को 'संस्कृत की संस्कृति

के विरुद्ध लोक संस्कृति व मातृभाषाओं के उदय का आंदोलन' बताते हुए इसकी शक्ति व सामर्थ्य की ओर गहन संकेत किया है । 'संस्कृत की संस्कृति' में 'पांडे' और 'काजी' भी शामिल हैं, और उनको संरक्षण देने वाले राजपरिवार भी ।

यद्यपि भक्ति आंदोलन पर अब तक कई महत्वपूर्ण व उच्च कोटि के शोध कार्य हो चुके हैं । आधुनिक हिन्दी आलोचना के शिखर पुरुष आचार्य रामचंद्र शुक्ल व उनके बाद भी अधिकांश प्रमुख आलोचकों- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा0 रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध आदि, ने भी अपनी समीक्षात्मक दृष्टि और साहित्य सम्बन्धी प्रतिमानों का निर्माण और निर्धारण भक्तिकाल के साहित्य के आधार पर ही किया है । इनकी सूक्ष्म और समृद्ध बहसों में भक्ति साहित्य या भक्ति आंदोलन का कोई पक्ष अछूता नहीं है, परन्तु इन्हीं बहसों के बीच पुनर्चिंतन के कई महत्वपूर्ण व जरूरी सूत्र भी हाथ लगते हैं । भक्ति आंदोलन के स्वरूप पर मुक्तिबोध को पढ़ते हुए मेरे मन में यह जिज्ञासा पैदा हुई कि यदि भक्ति आंदोलन की सगुण व निर्गुण धारा के कवियों का मूल्यबोध सामाजिक आधारों व वर्गीय स्थिति के कारण अलग-अलग है, जैसा मुक्तिबोध ने विवेचित किया है, और उनके परस्पर घात-प्रतिघात से ही भक्ति आंदोलन का विकास होता है; तब यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि सगुण एवं निर्गुण धारा के कवियों की सामाजिक- सांस्कृतिक संकल्पनाओं में विद्यमान अंतर का आधार अंततः मूलतः दार्शनिक

है । परन्तु दार्शनिक चिंतन का भी एक समाजशास्त्रीय व सांस्कृतिक आयाम अवश्य होता है । इसी प्रश्न के समाधान की प्रक्रिया में मैंने इसे अपने अध्ययन व शोध के विषय के रूप मे चुना । विषय पर बृहद आयाम में विचार करने के लिए मैंने इस शोध-कार्य के अंतर्गत भक्ति आंदोलन के उद्भव से लेकर उसके योगदान का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन किया है। विषयवस्तु की सुगम प्रस्तुति की दृष्टि से शोध-प्रबन्ध को छः अध्यायों में विभक्त किया गया है । पहले अध्याय 'भक्ति आन्दोलन का उद्भव एवं विकास' के अन्तर्गत भक्ति आन्दोलन के उद्भव एवं विकास सम्बन्धी प्रमुख विद्वानों आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा0 रामविलास शर्मा, गजाननमाधव मुक्तिबोध, डा0 नामवर सिंह, डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी, प्रो0 इरफान हबीब के मतों का विश्लेषण किया गया है ।

प्रस्तुत प्रबन्ध के **"द्वितीय अध्याय"** 'मध्यकालीन समाज की सांस्कृतिक संरचना' के अन्तर्गत तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक संरचना को जानने का प्रयास है, क्योंकि भक्तिकालीन कवियों एवं संतों द्वारा प्रतिपादित सामाजिक मूल्यों को स्पष्ट करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि उनको प्रेरित करने वाले तत्व क्या थे । भक्ति साहित्य का सही मूल्यांकन तभी सम्भव है, जब तत्कालीन परिस्थितियों को समझ लिया जाय ।

"तृतीय अध्याय" 'भक्ति साहित्य का परिचय' के अन्तर्गत भक्ति साहित्य के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मतों का उल्लेख है । इसके अतिरिक्त इसमें सम्पूर्ण भक्ति साहित्य का संतकाव्य, सूफी काव्य, राम भक्ति एवं कृष्ण भक्ति धारा में विभाजन करके प्रत्येक काव्यधारा के प्रमुख कवि एवं उनकी रचनाओं की जानकारी दी गयी है ।

"चतुर्थ अध्याय" 'सगुण साहित्य का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य' के अन्तर्गत सगुण-निर्गुण के विभाजन के आधार एवं सगुण विचारधारा के मुख्य तत्वों को स्पष्ट करते हुए सगुण साहित्य में व्यक्त मूल सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया गया है । सगुण काव्य धारा के साहित्य का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करते हुए स्पष्ट किया गया है कि सगुण काव्य धारा 'वर्णाश्रम' के सांस्कृतिक आदर्शों एवं मूल्यों का पोषक था ।

"पाँचवें अध्याय" 'निर्गुण साहित्य का समाजशास्त्रीय विश्लेषण' के अन्तर्गत यह दिखाने का प्रयास है कि मध्यकालीन निर्गुण आन्दोलन अपने मूलरूप में केवल धार्मिक या आध्यात्मिक संवेदना से अनुप्राणित आन्दोलन नहीं था, अपितु अभिजात्य वर्ग की निरंकुशता से उत्पीड़ित जनमानस की मुक्ति का रहस्य खोलने वाला सामाजिक आन्दोलन भी था ।

"शोध-प्रबन्ध के "छठे अध्याय" 'सगुण एवं निर्गुण काव्य धारा के बीच मूल्य संघर्ष का स्वरूप' के अन्तर्गत सगुण एवं निर्गुण काव्यधारा को

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से तुलना की गयी है । इसके लिए मुख्य आधारों वर्णाश्रम, अवतारवाद, 'स्त्री प्रश्न', 'ऊँच-नीच', 'छुआछूत', 'सामाजिक, धार्मिक पाखण्ड', 'पुर्नजन्म, कर्मफल, भाग्यवाद' को चुना गया है । इन्हीं मूल आधारों के तहत् सगुण एवं निर्गुण की समाजशास्त्रीय दृष्टि से सम्बद्ध सम्पूर्ण तथ्यों को तुलनात्मक ढंग से विवेचित - विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है । इस अध्याय में यह दिखाने का प्रयास है कि सगुण-निर्गुण दोनों धाराओं के बीच विवाद का आधार केवल उपासना पद्धति नहीं है बल्कि दोनों धाराओं के सामाजिक - सांस्कृतिक मूल्यों के बीच संघर्ष है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के लिए मुझे जिन पुस्तकालयों से सहायता मिली है, उनमें हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, केन्द्रीय पुस्तकालय इलाहाबाद विश्वविद्यालय, विभागीय पुस्तकालय हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रमुख है । इसके अतिरिक्त मैंने अपने निर्देशक महोदय के निजी पुस्तकालय से भी पर्याप्त सहायता ली है । बहुत सी अध्ययन सामग्री एवं किबाबों को मैंने अपने प्रयत्न तथा सीमित साधनों से भी एकत्रित किया । शोध-प्रबन्ध के प्रस्तुतीकरण में मुझे जिन विद्वानों की रचनाओं से सहायता मिली है, उनके प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को पूर्ण कराने का एकमात्र श्रेय मेरे निर्देशक महोदय **आदरणीय डॉ० सूर्यनारायण जी** को ही है । उन्होंने अपनी व्यस्तताओं के बावजूद भी इस विषय की बाधाओं को दूर करने के लिए अपना अमूल्य

समय निकाला । विषय निर्धारण से लेकर विषय विवेचन तक में उन्होंने वैचारिक भ्रांतियों के निराकरण, उनके परिहार और संशोधन में मेरा मार्गदर्शन किया, एक दृष्टि दी । इसके लिए मैं उनका सदैव ऋणी रहूँगा । इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के विभागाध्यक्ष **प्रो0 राजेन्द्र कुमार** एवं **प्रो0 सत्य प्रकाश मिश्र** के स्नेह एवं संवेदनापूर्ण दृष्टिकोण के प्रति श्रद्धानत हूँ । मैं उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ । हिन्दी विभाग के सभी गुरुजनों एवं अपने मित्रों को भी धन्यवाद, जिनका सहयोग निरन्तर मिलता रहा । **"आस्था फोटो स्टेट, यूथ मार्केट, मनमोहन पार्क, इलाहाबाद के श्री राम प्रकाश साहू"** ने अत्यन्त कम समय में शोध प्रबन्ध के टंकण से लेकर बाइंडिंग तक में जिस आत्मीयता एवं उत्साह का परिचय दिया, उनके प्रति मैं आभारी हूँ ।

प्रस्तुत शोध कार्य विशेष लाभ के लिए अपेक्षित समय से पूर्व प्रस्तुत किया जा रहा है, इसलिए कई महत्वपूर्ण प्रश्नों पर जितनी गम्भीर एवं विशद् चर्चा हो सकती थी, समय के दबाव के कारण ऐसा करना सम्भव नहीं हो सका । भविष्य में इन प्रश्नों पर और अध्ययन करने का मौका मिला तो विस्तार से इस विषय पर चर्चा करुँगा ।

15 दिसम्बर, 2002

यशवन्त यादव
यशवन्त यादव
शोध छात्र, हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
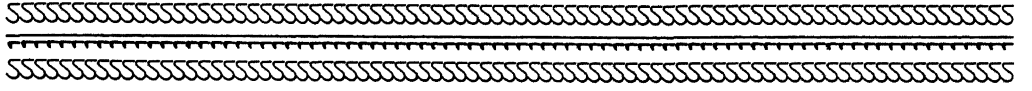
प्रथम अध्याय

भक्ति आन्दोलन का उद्भव एवं विकास
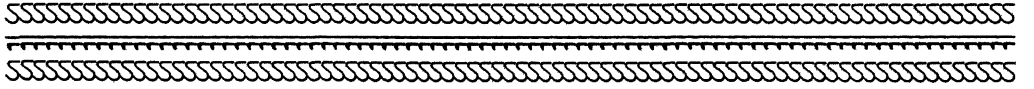
भक्ति आन्दोलन का उद्भव एवं विकास

भक्ति आन्दोलन के उद्भव एवं स्वरूप का प्रश्न एक दूसरे से जुड़ा हुआ है । उसके स्वरूप से ही उसके उद्भव की अवधारणा निर्धारित होगी। भक्ति आन्दोलन एवं भक्ति साहित्य, दोनों के आधार एक अवश्य थे; परन्तु साहित्य की अन्तर्दृष्टि आन्दोलन की अपेक्षा अधिक गहरी थी ।

सर्वप्रथम सर अब्राहम जार्ज ग्रियर्सन ने भक्ति आन्दोलन के ऐतिहासिक उदय सम्बन्धी समस्या की जटिलता पर विचार करते हुए "भक्ति" को ईसाईयत की देन घोषित किया ।[1] ग्रियर्सन ने भक्ति आन्दोलन की मूलवर्ती प्रेरणा से जूझते हुए उसे न केवल बिजली की आकस्मिक चमक माना, अपितु उसका श्रोत मध्यकाल की यूरोपीय ईसाई चेतना में खोजने की कोशिश की है । हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ग्रियर्सन के मत को अपनी हिन्दी साहित्य की भूमिका में उद्धृत किया है - "बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अन्धकार के ऊपर एक नयी बात दिखायी दी । ---- कोई भी मनुष्य जिसे पन्द्रहवीं तथा बाद की शताब्दियों का साहित्य पढ़ने का मौका मिला है, उस भारी व्यवधान को लक्ष्य किये बिना नहीं रह सकता जो (पुरानी और नई) धार्मिक भावनाओं में विद्यमान है । हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक विशाल है, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है, यहाँ तक कि वह

---

1. जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी "भक्ति मार्ग" पर ग्रियर्सन का लेख (1907 ई0) पृष्ठ - 311-336

बौद्ध धर्म के आन्दोलन से भी अधिक विशाल है क्योंकि इसका प्रभाव आज भी विद्यमान है । इस युग में धर्म ज्ञान का नहीं, बल्कि भावावेश का विषय हो गया था । यहाँ से हम साधना और प्रेमोल्लास के देश में आते हैं और ऐसी आत्माओं का साक्षात्कार करते हैं जो काशी के दिग्गज पंडितों की जाति के नहीं, बल्कि जिनकी समता मध्ययुग के यूरोपीयन भक्त बर्नई ऑफ क्लेयर बॉक्स, थॉमस एकेंपिन और सेंट थेरिसासे हैं ।"[1] ग्रियर्सन के अतिरिक्त अन्य पाश्चात्य विचारक विलियम्स (इण्डियन-विजडम), कीथ (माइयालाजी ऑफ आल रेसेज भाग - 6), विल्सन (रिलिजक्स सेक्टस ऑफ हिन्दू) मैक्स बेवर (दिन रिलीजन ऑफ इंडिया), हापकिंस (इण्डिया ओल्ड एण्ड न्यू) आदि ने भक्ति को 'ईसाईयत' से प्रभावित माना है ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ग्रियर्सन तथा उनके समर्थकों के तर्कों को खारिज करते हुए भागवत् धर्म की भूमिका को भारतीय उत्स से जोड़ते हुए भक्त तुलसी, आलवारों एवं रामानुजाचार्य के ऊपर ईसाई प्रभाव को कपोलकल्पना के रूप में उद्घाटित किया है । उन्होंने लिखा है - "ई0 सन् की दूसरी या तीसरी शताब्दी में नेस्टोरियन ईसाई मद्रास प्रेसीडेन्सी के कुछ हिस्से में आ बसे थे और रामानुजाचार्य को इन्हीं ईसाई भक्तों से भावावेश और प्रेमोल्लास के धर्म का संदेश मिला । यह बात एकदम गलत

---

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ-52, संस्करण - 1998, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली ।

है । अब इस अटकल के सहारे किये गये मत का कोई विश्वास नहीं करता, इसलिए इसका उत्तर देना बेकार है ।"[1]

इसी सम्बन्ध में डॉ0 हरवंश लाल शर्मा ने लिखा है - "डॉ0 ग्रियर्सन का कथन स्वाभाविक ही है क्योंकि पाश्चात्य विद्वानों की यह परम्परा रही है कि जो कुछ भी वे भारत में स्पृहणीय देखते हैं, उसका सम्बन्ध यूरोप से अवश्य जोड़ते हैं ।"[2]

भक्ति आन्दोलन को लेकर सर्वाधिक विवाद आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के विश्लेषणों को लेकर है । दोनों विद्वानों में जो मतभेद हैं उसे मुख्य रूप में इस प्रकार जाना जाता है कि शुक्ल जी के विचार से मध्यकालीन भक्तिकाव्य को पराजित जाति की तत्कालीन हताशा व विवश मनोवृत्ति का परिणाम माना है जबकि हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचारों में उसे युगीन स्थितियों से अलिप्त युगयुगीन भारतीय चिन्तनधारा की स्वाभाविक परिणति के रूप में देखा है । दोनों आचार्यों के सतर्क तुलनात्मक अध्ययन से उनमें मतैक्य के कई बिन्दु दिखाई पड़ते हैं फिर भी साहित्येतिहासिक विवेचनों में उनके विचारों को परस्पर विरोधी स्थापनाओं के रूप में देखा और समझा जाता रहा है ।

---

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग-3, पृष्ठ-306, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली ।
2. सूर और उनका साहित्य - डॉ0 हरवंश लाल शर्मा, पृष्ठ-72, चतुर्थ संस्करण, 1971

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पहले चिंतक हैं जिन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास को वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित करने के प्रयास में विभिन्न युगों की काव्यधाराओं को जनता की चित्तवृत्ति के संचित प्रतिबिम्ब के रूप में और साहित्यिक प्रवृत्तियों को युगीन सामाजिक परिप्रेक्ष्य से सम्बद्ध कर देखने और व्याख्यायित करने की दृष्टि स्थापित किया था तथा इसी संदर्भ में यह स्थापना की थी कि भक्तिकाल राजनीतिक उलटफेर के कारण अपने पौरुष से हताश जाति की विवश प्रतिक्रिया का परिणाम है ।[1]

सर्वप्रथम हजारी प्रसाद द्विवेदी ने "हिन्दी साहित्य की भूमिका" में इस मान्यता का सविस्तार परीक्षण किया और तत्कालीन हिन्दी साहित्य को एक हतदर्प जाति की संपत्ति, एक निरन्तर पतनशील जाति की चिन्ताओं का मूर्त प्रतीक तथा इस्लामी आक्रमण की प्रतिक्रिया मानने के विचार का तीव्र विरोध किया[2] और प्रतिपादित किया कि भक्ति आन्दोलन के एकाएक प्रादुर्भाव का कारण कोई विदेशी प्रभाव नहीं, वरन् उस काल की लोकवृत्ति का शास्त्रसिद्ध आचार्यों और पौराणिक ठोस कल्पनाओं से युक्त हो जाना है ।[3] भारतीय पांडित्य ईसा की एक सहस्त्राब्दी बाद आचार विचार और

---

1. हिन्दी सा० का इति० - आचार्य रामाचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ-34, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, उन्नीसवाँ संस्करण सं०-205।
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग-3, नई दिल्ली 1981 ई0, पृष्ठ - 33
3. वही पृष्ठ - 72, 70, 307

भाषा के क्षेत्रों में स्वाभावतः ही लोक की ओर झुक गया था; यदि अगली शताब्दियों में भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना अर्थात् इस्लाम का प्रमुख विस्तार न भी घटी होती, तो भी वह इसी रास्ते जाता । उसके भीतर की भक्ति उसे इसी स्वाभाविक विकास की ओर ठेले लिए जा रही थी । उसी स्वाभाविक परिणति का मूर्त प्रतीक हिन्दी साहित्य है ।[1]

द्विवेदी जी के इन विचारों को आचार्य शुक्ल के विरूद्ध सर्वथा मौलिक प्रतिपादन के रूप में माना जाता है । किन्तु आचार्य शुक्ल ने भक्ति आन्दोलन की पृष्ठभूमि के रूप में निराशाजनक राजनीतिक स्थिति के साथ-साथ कई अन्य बातों का भी उल्लेख किया है । शुक्ल जी ने भक्ति की प्राचीन परम्परा और उसके दक्षिण की ओर से आने वाले श्रोत की भी चर्चा की है । इसी सम्बन्ध में उन्होंने पूर्वपीठिका के रूप में विद्वन्मंडली के भीतर चली और विकसित होती आ रही, भक्तिमार्ग के सिद्धान्त पक्ष के विवेचन की परम्परा तथा वज्रयानी (महायानी बौद्ध) सिद्धों और नाथपंथी जोगियों की धारा की ओर भी संकेत किया है । जहाँ तक भक्ति आन्दोलन के मूल में लोकतत्वों की भूमिका का सम्बन्ध है, शुक्ल जी ने न केवल देश की काव्यधाराओं के मूल प्राकृतिक स्वरूप तथा देश की अन्तर्वर्तिनी मूल भावधारा के स्वरूप के ठीक-ठीक परिचय के लिए ग्राम गीतों के महत्व को बताया, वरन् भक्तिकाल के विकास में लोकतत्वों के योगदान को दिखलाया भी है।

---

1. वही पृष्ठ - 44 व 39

सूर की गीतकाव्य परम्परा पर टिप्पणी करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है- "सूर सागर किसी चली आती हुई गीत काव्य परम्परा का - चाहे वह मौखिक ही रही हो - पूर्ण विकास प्रतीत होता है ।"[1] इसी प्रकार सूफी प्रेमगाथाओं के पीछे हिन्दुओं के घरों में बहुत दिनों से चली आती हुई कहानियों और उनकी मार्मिक संवेदना के आधार की बात भी उन्होंने स्पष्ट की ।[2]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बीच मुख्य मतभेद भक्ति पर इस्लाम के प्रभाव को लेकर है । आचार्य शुक्ल भक्ति आन्दोलन के उदय को मुसलमानी राज्य की स्थापना से जोड़कर देखते हैं । तत्कालीन राजनीतिक स्थिति और भक्तिकाल के आरम्भ के अन्तर्सम्बन्ध को दिखाने वाले उनके कथन जिनको लेकर तीखा विवाद है उनके हिन्दी साहित्य के इतिहास में कई बार आये हैं । वीरगाथाकाल के प्रकरण का समापन करते हुए वे कहते हैं - "मुसलमानों के (देश में) जम जाने पर अपने धर्म के उस व्यापक और हृदय ग्राह्य रूप के प्रचार की ओर ध्यान हुआ जो सारी जनता को आकर्षित रखे और धर्म से विचलित न होने दें ।"[3] इसी प्रकार 'भक्तिकाल' के 'सामान्य परिचय' नामक प्रकरण का

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ-90, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 29वाँ संस्करण, सं0-2051
2. वही पृष्ठ - 39-40
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ - 33 . . .

आरम्भ करते हुए उन्होंने कहा -- "देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया । उसके सामने ही उसके देव मन्दिर गिराये जाते थे, देव मूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे । ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीतक न तो गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे । आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर-दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गये । इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छाई रही । अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?"[1] थोड़ा आगे चलकर वे पुनः कहते हैं - "भक्ति का जो स्रोता दक्षिण की ओर से धीरे-धीरे उत्तर की ओर पहले से ही आ रहा था, उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला।"[2] यहाँ शुक्ल जी का स्वर कुछ भिन्न है, वे राजनीतिक परिवर्तन को भक्ति के प्रवर्तन के मूल कारण के रूप में देखने के बजाय एक त्वराकारी और सुगमताकारी कारक के रूप में प्रतिपादित करते प्रतीत होते हैं ।

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ-34
2. वही पृष्ठ - 35

मुसलमानों के सत्ता में आ जाने से उत्पन्न हुई नई स्थिति ही भक्तिकाल के आविर्भाव के लिए जिम्मेदार हैं, यह बात शुक्ल जी को इतनी मान्य है कि कृष्ण भक्ति के विवेचन में 'कृष्णाश्रय' में सिर्फ एक बार आये पद 'म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु' के आधार पर वे पुनः वल्लभाचार्य द्वारा वर्णित विपरीत दशा के नाम पर इसके निरूपण का प्रसंग विकाल लेते हैं । इस बार अपनी टिप्पणी में उन्होंने मुसलमानी साम्राज्य के अच्छी तरह से दृढ़ होने से लेकर इस्लामी संस्कृति के प्रभाव के अच्छी तरह जम जाने तथा सूफी भक्तों एवं पीरों के प्रचार कार्य के धूम से चलने तक की बात कह डाली है और देशकाल की इसी परिस्थिति को वल्लभ की प्रेरणा का मूल स्रोत बताया है । यहाँ आचार्य शुक्ल यह भूल जाते हैं कि 'कृष्णाश्रय' में देश के म्लेच्छाक्रान्त होने का उल्लेख अन्य अनेक विपरीत दशाओं में से मात्र एक बात है, इससे बल्लभ के संदेश को अकेले उसी की प्रतिक्रिया में प्रस्तुत हुआ, कैसे माना जा सकता है ।[1]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भक्तिकाल को निराशाजन्य मानने की शुक्ल जी की धारणा का विरोध किया है । मध्यकाल भारतीयों और भारतीय संस्कृति की पराजय का काल था, इस बात से इनकार नहीं किया है ।

---

1. आलोचना , नवांक 49-50, नई दिल्ली, अप्रैल - सितम्बर 1979, पृष्ठ - 57

द्विवेदी जी की मान्यता थी कि इतना होते हुए भी भारतवर्ष अपने आत्मरूप में निस्तेज नहीं हुआ था ।[1] भक्तिकाल को हताश-मनोवृत्ति की देन मानने के विचार से उनकी तीव्र असहमति के मूल में उनकी यही मान्यता थी । भक्त कवियों की वाणियाँ अपने किसी भी स्तर पर हताश मन की अभिव्यक्तियाँ नहीं हैं । इसके विपरीत उनमें हमें उनके हृदय की आशा आकांक्षायें स्फूर्ति और उत्साह साफ-साफ बोलता दिखाई देता है । किन्तु इस आधार पर यदि कोई भक्तिकाल की चेतना को 1400 ईसवी के आस-पास के काल की हिन्दू राजशक्तियों के अभ्युदय और निराशा या हताशा के विपरीत मनःस्थिति के युग से जोड़कर देखने लगे, तो यह उसकी और भी बड़ी भूल होगी ।[2] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भक्ति साहित्य को 'हतदर्प पराजित जाति' का साहित्य नहीं मानते वे कहते हैं - "जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्माल नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है ।"[3]

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली - 4, नई दिल्ली 1981, पृष्ठ-55
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली - 4, नई दिल्ली 1981, पृष्ठ-51-52
3. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका पृष्ठ - 16, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1998

भक्ति काल का पुर्नमूल्यांकन आचार्य द्विवेदी के समीक्षा कर्म की मूल्यवान उपलब्धि है । मध्यकालीन इतिहास लेखन के प्रसंग में उनकी प्रस्तावना इस प्रकार है - "मतों, आचार्यों, सम्प्रदायों और दार्शनिक चिंताओं के मानदण्ड से लोकचिंता को नहीं मापना चाहता बल्कि लोकचिंता की अपेक्षा में उन्हें देखने की सिफारिश कर रहा हूँ ।"[1] स्पष्ट है कि संस्कार एवं अनुभव, परम्परा एवं विवेक का द्वन्द्व जिस प्रकार सामाजिक मूल्यों के विकास के मूल में होता है, वैसे ही साहित्यिक मूल्यों के विकास में भी समर्थ समीक्षक या इतिहासकार वही होता है जो साहित्य क्षेत्र के मूल्यों के मूल श्रोत को सामाजि जीवन के मूल्यों में देखता है । भक्ति काव्य को व्यापक सांस्कृतिक इतिहास के अंग के रूप में देखने का यह दृष्टिकोण हिन्दी साहित्य के इतिहास में आचार्य द्विवेदी की नई देन है ।

आचार्य द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में हिन्दी साहित्य के इतिहास को 'युगीन परिस्थितियों' के संदर्भ में न देखकर सांस्कृतिक सामाजिक परम्पराओं के विशाल प्रवाहमान धारा के सतत् प्रवाह के रूप में देखने का आग्रह किया है । प्राचीन साहित्य एवं मध्यकालीन परम्पराओं का इतना गम्भीर विवेचन सामाजिक पृष्ठभूमि के ऐसे जीवंत बोध के साथ पहले दिखाई नहीं पड़ा था । भक्तिकाल से सम्बद्ध द्विवेदी जी की यह समीक्षात्मक कृति

----

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका, आचार्य द्विवेदी

स्थायी महत्व की है । समीक्षा की यह मार्गदर्शिका साहित्यिक इतिहास का अध्ययन करने के लिए एक सुविचारित और मौलिक दृष्टि रखती है- "वह काल श्रोत से बह आते हुए जीवंत समाज की विकास कथा है । ग्रन्थकार और ग्रन्थ उस प्राणधारा की ओर सिर्फ इशारा ही करते हैं । वे ही मुख्य नहीं है । मुख्य हैं वह प्राणधारा, जो नाना परिस्थितियों से गुजरती हुई आज हमारे भीतर अपने आपको प्रकाशित कर रही है । साहित्य के इतिहास में हम अपने आपको ही पढ़ने का सूत्र पाते हैं ।"[1] यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि साहित्य के इतिहास का महत्व तभी होगा जब उसमें संस्कृति एक जीवंत परम्परा के रूप में बोलती है, जिसकी प्रेरणा विकासात्मक हो और जो उन धारणों को खोजती हो जिनमें ऐतिहासिकता अन्तर्निहित हो संस्कृति की आन्तरिक साधना की द्वन्द्वात्मक क्रमिकता को बताने के लिए आचार्य द्विवेदी ने लिखा है - "ऐसा प्रयत्न किया गया है कि हिन्दी साहित्य को सम्पूर्ण भारतीय साहित्य से विच्छिन्न करके न देखा जाय । मूल पुस्तक में बार-बार संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य की चर्चा आई है । इसलिए कई लम्बे परिशिष्ट जोड़कर संक्षेप में वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्यों का परिचय करा देने की चेष्टा की गई है ।"[2] परम्परा एवं संस्कृति

---

1. कल्पलता - हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ - 175
2. हिन्दी साहित्य की भूमिका, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ - 1, (निवेदन से उद्धृत)

की इसी दृष्टि से द्विवेदी जी ने निर्गुण संत परम्परा और वैष्णव सगुण परम्परा का नये ढंग से विवेचन एवं मूल्यांकन किया है । उन्होंने बताया है कि सिद्धो-नाथो की परम्परा जिससे हिन्दी की संत परम्परा प्रभावित है, लोकहित विरोधी न होकर लोकहितकारी है और यह हमारी परम्परा का अनिवार्य अंग है - जिसे समझने में आचार्य शुक्ल से मूलतः चूक हो गयी थी । आचार्य शुक्ल की इस चूक को सुधारने के लिए द्विवेदी जी को 'मध्ययुग' नाम की व्याख्या करनी पड़ी । इस संबंध में उन्होंने मध्यकालीन बोध पर विस्तार से विचार किया और निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'मध्ययुगीनता जबदी हुई मनोवृत्तियों का पतनशील प्रतीक रूप है ।' द्विवेदी ने अपनी इस स्थापना में भक्तिकाल को सम्मिलित नहीं किया है । आचार्य द्विवेदी के निबन्ध 'मध्ययुग के संतों का सामान्य विश्वास' से प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में भक्तिकाव्य की उपलब्धियाँ उत्कर्षपरक हैं - "मध्ययुग के भक्ति आन्दोलन की बड़ी विशेषता यह है कि भक्ति एवं भगवान् को सामान् बताया है । प्रेम का आधार ही समानता है ।[1] इसी तरह मध्ययुग के संतों में मत, साधना पद्धति और आचार विचार सम्बन्धी नाना मतभेदों के साथ भी एक साम्य है । इसी साम्य के कारण मध्ययुम का सारा भक्ति साहित्य एक विशेष श्रेणी का साहित्य हो सका है ।[2]

---

1. हि0सा0 की भूमिका, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ - 85, (निवेदन से उद्धृत)

2. " " पृष्ठ - 82

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भक्तिकाल के उदय के संदर्भ में आचार्य शुक्ल के मत का सीधा विरोध किया है । उन्होंने आचार्य शुक्ल के मत को बिना उनका नाम लिये खारिज करते हुए लिखा है - "दुर्भाग्यवश, हिन्दी साहित्य के अध्ययन और लोकचक्षुगोचर करने का भार जिन विद्वानों ने अपने ऊपर लिया है, वे भी हिन्दी साहित्य का सम्बन्ध, हिन्दू जाति के साथ ही अधिक बतलाते हैं और इस प्रकार अनजान आदमी को दो ढंग से सीचने का मौका देते हैं । एक यह कि हिन्दी साहित्य, एक हतदर्प पराजित जाति की सम्पत्ति है ...... वह एक निरंतर पतनशील जाति की चिंताओं का मूर्त प्रतीक है ...... मैं इस्लाम के महत्व को भूल नहीं पा रहा हूँ लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है ।"[1] स्पष्ट है कि आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल के उदय को निराशा या इस्लाम की प्रतिक्रिया या हिन्दू-मुस्लिम सघर्ष का परिणाम नहीं माना है । उनकी दृष्टि में भक्तिकाल का उदय "भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास" है । वे कहते है - "हजार वर्ष पहले से वे ज्ञानियों और पण्डितों के ऊँचे आसन से नीचे उतरकर अपनी असली प्रतिष्ठा

---

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ-15-16, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ल, संस्करण-1998

भूमि लोकमत की ओर आने लगी । उसी को स्वाभाविक परिणति इस रूप में हुई । उसी स्वाभाविक परिणति का मूर्त प्रतीक हिन्दी साहित्य है । मैं इसी रास्ते सोचने का प्रस्ताव करता हूँ ।"[1]

आचार्य द्विवेदी की यह मान्यता काफी विस्तार पा चुकी है । अपनी मान्यता के समर्थन में उन्होंने भक्ति आन्दोलन के भिन्न-भिन्न बिखरे सूत्रों को समेटते हुए लिखा है - "प्रथमतः तो यह जन आन्दोलन की अभिव्यक्ति का साहित्य है । इसलिए इसमें उन रूढ़ियों और परम्पराओं की चर्चा नहीं मिलती जो शास्त्रीयता से पुष्ट साहित्य में साधारणतः मिल जाया करती है।"[2] स्पष्ट है कि भक्ति आन्दोलन के शास्त्रीय चिंतन की रूढ़ियों से मुक्त स्वरूप और चरित्र की पठार रूप से विवेचित करते हुए आचार्य द्विवेदी प्राचीन की नवीन व्याख्या में तल्लीन रहे हैं । यहीं भक्ति काव्य के उदय की व्याख्या में आचार्य द्विवेदी की समीक्षा दृष्टि शुक्ल जी से आगे बढ़कर परम्परा तथा आधुनिक रचनाशीलता के बीच नये और मजबूत सम्बन्ध सेतुओं का खुलासा करती है और भक्ति काल के उदय को उसकी जीवन्त उपलब्धियों के आधार पर निरन्तरता में पहचानती और प्रस्तुत करती है ।

---

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ - 20
2. पृष्ठ - 62

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भाषा, समाज तथा साहित्य के अंतर्वर्ती सम्बन्धों पर ध्यान देते हुए भक्तिकाल की रचनाशीलता का सही जातीय चेतना के जीवंत रूप में उकेरा है । उन्होंने 'लोकचिंता' की केन्द्र में रखकर भक्तिकाल के विकास को एक जीवित परम्परा के रूप में पेश किया । द्विवेदी के शब्दों में - "एक जीवित जाति के स्पर्श में आने पर दूसरी पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है ।"[1] स्पष्ट है कि 'जीवित-जाति' दूसरे शब्दों में मुसलमान जाति का प्रभाव हिन्दू जाति पर पड़ा । द्विवेदी की मान्यता है कि भारतीय साहित्य के सुवर्णकाल (गुप्तकाल) में कालिदास पर ग्रीक प्रभाव पड़ा था, लेकिन उसे देखकर यह नहीं कहा जा सकता है कि यह दुर्बल जाति का प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्ति का निदर्शक है, उसी प्रकार हिन्दी में भी यह प्रभाव 'प्रभाव' के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए, प्रतिक्रिया के रूप में नहीं ।[2]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप' में भक्तिकाव्य के उदय के संदर्भ में एक और तथ्य रेखांकित किया है - 'अत्यधिक प्राकृत केन्द्री कविता की प्रतिक्रिया का अवसान सहज भगवत्प्रेम में हुआ । संतों और सगुणमार्गी भक्तों ने नये रसबोध को बढ़ावा दिया ।

---

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ - 58
2. वही पृष्ठ - 39

ाकाल में संस्कृत की प्रवृत्तियों को जिलाये रखा गया, पर भक्ति ासे भी चलित करते रहे ।[1]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की मान्यता है कि भक्ति आन्दोलन की ऐतिहासिक माँग बनकर उपस्थित हुआ । उनका विचार ाबीर, जायसी, सूर, तुलसी जैसे महान् कवियों की वाणी से उद्धृत ासी 'प्रतिक्रिया' की उपज नहीं हो सकता है । अपने इस नैसर्गिक ा तहत् आचार्य द्विवेदी ने भक्ति आन्दोलन तथा भक्ति काव्य को की कोशिश की है । उन्होंने भक्ति काव्य को लोक आधार के देश की साधना पद्धतियों, धर्मों, मतों तथा चिंताधाराओं में उसका खोजा है । भक्ति काव्य की निर्गुण तथा सगुण दोनों विचारधाराओं में ईसाइयत एवं इस्लाम की मजहबी क्रियाकलापों की प्रतिक्रिया ते हुए भक्ति आन्दोलन की सच्ची पहचान कराने की कोशिश द्विवेदी जी ने भक्तिकाल के उदय में तीन संदर्भों की महत्वपूर्ण वीकार की है - भारतीय चिंताधारा का स्वाभाविक विकास, बौद्ध क्रेया का संक्रमित होकर निर्गुण तथा सगुण दोनों भक्ति धाराओं में विकास एवं प्राकृत अपभ्रंश की देशी काव्यधारा में श्रृंगारिकता तीव्र प्रतिक्रिया ।

मध्यकालीन बोध का स्वरूप, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ - 119

भक्तिकाल के उदय में आचार्य द्विवेदी के गहन साहित्यबोध, मौलिक चिंतन और विस्तृत अध्ययन का परिचय मिलता है । डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है - "मध्यकालीन बोध हजारी प्रसाद द्विवेदी की रचना तथा चिंता दृष्टि का केन्द्र बिन्दु है । चाहे उनके उपन्यास हो या कि समीक्षा या इतिहास चर्चा, वे समूचे भारतीय और हिन्दी मध्यकालीन कृतित्व को उसके श्रेष्ठ सर्जनात्मक रूप में प्रस्तुत करते हैं ।[1]

जहाँ तक भक्ति के उदय की निराशावादी धारणा का सम्बन्ध है, शुक्ल जी के प्रबल समर्थक डॉ0 राम विलास शर्मा ने भी उसे पूरी तरह से स्वीकृति प्रदान की है । हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आचार्य शुक्ल की व्याख्या को नकारते हुए उसे 'अत्यन्त उपहासास्पद' बतलाया है किन्तु डॉ0 राम विलास शर्मा की मान्यता है कि संस्कृति चेतना विचारक होते हुए द्विवेदी जी के बोध से भारत की सांस्कृतिक अखण्डता का स्वरूप लुप्त हो गया है - अन्यथा वे उत्तर दक्षिण का प्रश्न उठाते । इस सम्बन्ध में डॉ0 शर्मा ने लिखा है - "भक्ति आन्दोलन एक ओर अखिल भारतीय आन्दोलन था, दूसरी ओर वह प्रदेशगत, जातीय आन्दोलन भी था । देश और प्रदेश एक साथ, राष्ट्र और जाति दोनों की सांस्कृतिक धारायें एक साथ । भक्ति आन्दोलन की व्यापकता

---

1. इतिहास और आलोचक दृष्टि - डॉ0 राम स्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ-25, प्र0सं0 - 1982

और सामर्थ्य का यही रहस्य है ।"[1] डॉ0 शर्मा की धारणा है कि आचार्य शुक्ल ने भक्ति आन्दोलन को जनमानस की 'चिन्तवृत्तियों' के परिप्रेक्ष्य में परखा है जो उनके समीक्षा दर्शन के सर्वथा समीचीन था । उन्होंने शुक्ल के "हिन्दी साहित्य का इतिहास' से उदाहरण देकर दिखाया है कि "भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से धीरे-2 उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था, उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारंण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला ।"[2] यानि डॉ0 शर्मा के अनुसार आचार्य शुक्ल ने पहले से चली आ रही भक्ति की उस परम्परा की उपेक्षा नहीं की है जिसे आचार्य द्विवेदी ने संकेतित किया है ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को भक्ति काव्य उदय सम्बन्धी आचार्य शुक्ल की इस्लाम प्रतिक्रिया वाली व्याख्या स्वीकार नहीं है । उन्होंने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में लिखा है - "......लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है ।"[3] डॉ0 रामविलास शर्मा के अनुसार द्विवेदी जी के इस कथन में तर्क की अपेक्षा कल्पना का पुट अधिक

---

1. परम्परा का मूल्यांकन, डॉ0 रामविलास शर्मा, पृष्ठ-91
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल, पृष्ठ - 35
3.

है । उनका यह कथन भक्ति भावना के विकास का वस्तुनिष्ठ, इतिहास सम्मत आधार नहीं पेश करता । उन्होंने लिखा है कि - "शुक्ल जी का सूत्र अत्यन्त सारगर्भित है - सूत्र यह है कि अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ? भक्ति अपने सीमित अर्थ में निराश मन की पुकार है । दुख में सुमिरन सब करें, सुख में करे न कोय ' । यह पंक्ति उसी सत्य को व्यंजित करती है । शुक्ल जी के अनुसार सामान्य स्थिति यह होनी चाहिए कि मनुष्य अपने पौरुष का भरोसा किंतु उत्पीड़न में श्रमिक जनता की कमर टूट जाती है, तब वह राम-राम पुकार उठती है । इसीलिए भक्ति यूरोप में थी, भारत में थी, दक्षिण भारत में थी, उत्तर भारत में थी। किन्तु भक्ति व्यापक अर्थ में पीड़ित जनता का विद्रोह भी है, उल्लास और सुखी जीवन की आकांक्षा की अभिव्यक्ति भी है ।[1] स्पष्ट है कि डॉ0 शर्मा के अनुसार भक्तिकाव्य के उदय में आचार्य शुक्ल का मत 'परिवेश' और 'परम्परा' के सही आनुपातिक प्रभाव पर आधारित होने के कारण विवेक सम्मत है ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की मान्यता है कि 'लोकधर्म' ही नाना जनविश्वासों की शक्ति पाकर भक्तिकाल और भक्ति आन्दोलन की

---

1. लोक जागरण एवं हिन्दी काव्य - डॉ0 रामविलास शर्मा, पृष्ठ-23

पृष्ठभूमि बना है,[1] पर डॉ0 रामविलास शर्मा ने आचार्य द्विवेदी को 'राहुल सांस्कृत्यायन' से जोड़ते हुए 'नस्लवादी' सिद्ध करने का प्रयास किया है । डॉ0 शर्मा ने आचार्य शुक्ल की भक्तिकाव्य के उदय सम्बन्धी व्याख्या को न सिर्फ स्वीकृति प्रदान की है अपितु उसके लिए उन्होंने ज्यादा विचार भी जुटाये हैं । इस सम्बन्ध में डा0 शर्मा शुक्ल जी से एक कदम आगे बढ़ते हुए निर्गुण - सगुण के बीच किसी बुनियादी अन्तर्विरोध से इनकार किया है। कबीर जैसे निर्गुण संतों को योगियो नाथो की 'प्रतिक्रियावादी' विचारधारा से अलग करके शर्माजी ने स्पष्ट किया है कि शुक्ल जी का कोप नाथो योगियों पर ही है निर्गुण संतों पर नहीं । उन्होंने लिखा है - निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म के उपासकों में जितनी समानतायें हैं उतनी असमानतायें नहीं ।[2] दोनों की भूमि 'सामान्य' है जो सगुण ब्रह्म के उपासक हैं वे निर्गुण के विरोधी नहीं हैं जो निर्गुण के उपासक हैं वे कभी-2 उसे निर्गुण - सगुण से ही परे समझते हैं ।[3]

डॉ0 रामविलास शर्मा मार्क्सवादी समीक्षक हैं । उन्होंने स्वीकारा है कि संस्कृति आर्थिक व्यवस्था की उपरी मंजिल है और उसी परिप्रेक्ष्य में भक्ति आन्दोलन की आधारभूमि क्या थी ? इस तथ्य की छानबीन की।

---

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ-10-11
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, डा0 रामविलास शर्मा, पृ0-50
3. वही

ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सहारा लेते हुए डा0 शर्मा ने दिखाया है कि मध्यकाल में सामंती ढाँचा पर्याप्त जर्जरित हो चुका था । वह टूटना चाहता था । सम्बन्धों के जोड़ के सारे आधार निरर्थक हो गये थे । तब इस ढाँचे के ही अन्तर्विरोधों की कोष से नया समाज अर्थात् पूँजीवादी समाज जन्म लेना चाहता था । "उस ढाँचे के भीतर व्यापारियों द्वारा पैदा किये पूँजीवादी सम्बन्ध जन्म लेने लगे । पुराने जनपदों का अलगाव काफी दूर हुआ और वे मिलकर एक जाति (नेशन) के रूप में संगठित होने लगे । भक्ति आन्दोलन इस जातीय आन्दोलन का सांस्कृतिक प्रतिबिम्ब था ।"[1] फिर उन्होंने लिखा है - "मजदूर वर्ग और पूँजीपतियों के संघर्ष से पहले आमतौर से देखा यह गया है कि वर्ग-संघर्ष एक धार्मिक लिबास में सामने आता है । उस लिबास के नीचे छिपे हुए ऐतिहासिक तथ्य को देखना हर वैज्ञानिक विचारक का कर्तव्य है । .... पुरोहितों और राजाओं से दबे हुए लोगों ने जब सामाजिक बन्धनों से मुक्ति पाने के लिए अपना अधिकार घोषित किया तब शासक वर्ग प्रसन्न नहीं हुआ । मुक्ति और धर्म पर वह अपना इजारा समझता था । हर वर्ण के लिए उसने धर्म-कर्म की व्यवस्था कर ली थी, उसमें किसी तरह के हेर-फेर करने पर कठोर दण्ड देने की व्यवस्था थी । इसलिए सामन्तों एवं पुरोहितों के खिलाफ जनता के संघर्ष ने अगर धार्मिक लिबास पहना तो वह एक अनिवार्य ऐतिहासिक

---

1. परम्परा का मूल्यांकन - डॉ0 रामविलास शर्मा, पृष्ठ-92

आवश्यकता थी ।"[1] यानि कि भक्ति आन्दोलन धार्मिक लिबास में प्रकट हुआ वर्ग-संघर्ष का एक रूप था । डा0 रामविलास शर्मा का मानना है कि तत्कालीन व्यापारियों की शक्ति बढ़ने से जुलाहों, कारीगरों, किसानों को शक्ति मिली थी और वे मुखर हो उठे । डा0 शर्मा कहते हैं - "राज्य सत्ता सामन्तों के हाथ में रहती है, लेकिन बहुत से सामन्त भी अपनी शक्ति के लिए व्यापारियों का सहारा लेते हैं ।[2] डा0 रामविलास शर्मा की यह मान्यता शुक्ल की मान्यता से एकदम स्वतंत्र है ।

भक्ति काव्य उदय व्याख्या के संदर्भ में शुक्ल के प्रबल समर्थक डा0 रामविलास शर्मा भी उनके आंशिक समर्थन से आगे नहीं जा सके हैं। डा0 रामविलास शर्मा ने तत्कालीन निराशा और उदासी को भक्ति का एक श्रोत तो स्वीकार किया, पर मुस्लिम शासन को उसका एक मात्र कारण न मानकर सामन्ती सत्ता को उसके लिए जिम्मेदार ठहराया, जिसमें देशी सामन्तों और उनके सहायक पुरोहितों को भी भागीदारी थी ।[3] आज यह बात आमतौर पर स्वीकार की जाती है कि आचार्य शुक्ल से निराशा का मूल कारण खोजने और युगीन परिस्थितियों को गहराई से समझने में गलती हुई ।

---

1. परम्परा का मूल्यांकन- डा0 रामविलास शर्मा, पृष्ठ-76
2. वही । पृष्ठ-41।
3. आचार्य शुक्ल और हिन्दी आलोचना, डा0 रामविलास शर्मा, आगरा 1959, पृष्ठ - 83

भक्ति आन्दोलन के सम्बन्ध में गजानन माधव मुक्ति बोध का नाम उल्लेखनीय है । मुक्ति बोध का भक्तिकाल के उदय विषयक विवेचन उनके लेख 'मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन का एक पहलू' (मुक्ति बोध रचनावली खण्ड-5) में संकलित है ।

मुक्ति बोध ने भक्ति–आन्दोलन को मूलतः उच्च वर्गों तथा ऊँची कही जाने वाली जातियों के खिलाफ निम्न वर्गों तथा जातियों के आवश्यक विद्रोह के रूप में देखा है । मुक्तिबोध का मानना है कि - "किसी भी साहित्य को हमें तीन दृष्टियों से देखना चाहिए । एक तो यह कि वह किन सामाजिक और मनोवैज्ञानिक शक्तियों से उत्पन्न है, अर्थात् वह किन शक्तियों के कार्यों का परिणाम है, किन सामाजिक, सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अंग है ? दूसरे यह कि उसका अन्तः स्वरूप क्या है, किन प्रेरणाओं और भावनाओं ने उसके आंतरिक तत्व रूपायित किये हैं ? तीसरे उसके प्रभाव क्या हैं, किन सामाजिक शक्तियों ने उसका उपयोग या दुरूपयोग किया है और क्यों ? साधारणजन के किन मानसिक तत्वों को उसने विकसित या नष्ट किया है ? ।"[1] स्पष्ट है कि मुक्तिबोध साहित्य की सौन्दर्यवादी समीक्षा को अस्वीकार न करते हुए विशेषतः उसकी समाजशास्त्रीय व्याख्या को महत्व देते हैं ।

---

1. मुक्ति बोध रचनावली (खण्ड-5) पृष्ठ - 292, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण - 1980

मुक्ति बोध ने मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन को जनसाधारण द्वारा प्रेरित और संचालित माना है । इस आन्दोलन द्वारा पीड़ित एवं त्रस्त जनता ने एक प्रकार से अपना विद्रोही स्वरूप प्रकट किया था । मुक्ति बोध लिखते हैं - "भक्ति आन्दोलन दक्षिण भारत से आया । समाज की धर्मशास्त्रवादी, वेद - उपनिषद्वादी शक्तियों ने उसे प्रस्तुत नहीं किया, वरन् आलवार संतों ने उनके प्रभाव में रहने वाली जनसाधारण ने उसका प्रचार किया ।[1] मुक्तिबोध का मानना है कि समाज के उच्चवर्ग एवं निम्नवर्ग का संघर्ष सदियों से है । यह संघर्ष धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में देखा जा सकता है - "उच्चवर्गीयों एवं निम्नवर्गीयों का संघर्ष बहुत पुराना है । यह संघर्ष निस्संदेह धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक क्षेत्र में अपना पर्याप्त प्रभाव रखा, किन्तु भक्ति आन्दोलन पर जनसाधारण का जितना व्यापक प्रभाव हुआ उतना किसी अन्य आन्दोलन का नहीं । पहली बार शूद्रों ने अपने संत पैदा किये, अपना साहित्य और अपने गीत सृजित किये । कबीर, रैदास, नाभा सिंधी, सैना, नाई आदि - आदि महापुरुषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरूद्ध आवाज बुलन्द की ।"[2] यहाँ मुक्ति बोध ने भक्ति - आन्दोलन की गत्यात्मक सामाजिक शक्तियों से निर्मित होने वाले सांस्कृतिक इतिहास की मूल चेतना की ओर संकेत किया है । मुक्ति बोध के अनुसार मध्यकालीन

---

1. मुक्ति बोध रचनावली (खण्ड-5) पृष्ठ - 293
2. वही पृष्ठ - 293

भक्ति-आन्दोलन के अन्तर्गत दो धारायें समानान्तर प्रवाहित थीं । एक निम्न वर्ग से आये हुए संतों की निर्गुण धारा और दूसरी पौराणिक प्रभाव को लेकर चलने वाली उच्चवर्गीय समर्थन प्राप्त सगुण धारा ।

मुक्ति बोध के अनुसार निर्गुण संतों का आन्दोलन धार्मिक अंध विश्वासों, सामाजिक कुरीतियों एवं जातिवाद के विरुद्ध एक सबल आन्दोलन था । इस आन्दोलन से निम्न जातियों में आत्म विश्वास तथा आत्मगौरव उद्भूत हुआ लेकिन इसका विरोध सगुण धारा के समर्थकों द्वारा हुआ । मुक्ति बोध ने लिखा है - "निर्गुण मत के विरूद्ध सगुण मत का संघर्ष निम्न वर्गों के विरूद्ध उच्चवंशीय संस्कारशील अभिरूचि वालों का संघर्ष था । सगुण मत विजयी हुआ उसका प्रारम्भिक विकास कृष्ण भक्ति के रूप में हुआ।[1] मुक्ति बोध की धारणा है कि महाराष्ट्रीय सगुण कृष्ण भक्ति में निर्गुण मत से कोई संघर्ष नहीं था, क्योंकि कृष्ण वहाँ एक 'तारणकर्ता देवता' था, जो अपने भक्तों का उद्धार करता था, चाहे वे किसी वर्ग या जाति के क्यों न हों ? यही नहीं महाराष्ट्र की कृष्ण भक्ति में श्रृंगार भावना नहीं थी, जबकि उत्तर भारत में नन्ददास वगैरह उच्चकुलोद्भव कवियों ने भक्ति क्षेत्र में जातिवाद न स्वीकार करते हुए निर्गुण मत का विरोध किया । मुक्तिबोध की मान्यता है कि निर्गुण मत में निम्नवर्गीय धार्मिक जनवाद एक क्रान्तिकारी

---

1. मुक्ति बोध रचनावली (खण्ड-5), पृष्ठ-295

भूमिका लेकर प्रकट हुआ, किंतु उत्तर भारत की कृष्ण भक्ति में उसका जनवादी क्रान्तिकारी रूप समाप्त हो गया । कालान्तर में तुलसीदास ने निर्गुण मतवाद के जनोन्मुख रूप और उसी क्रान्तिकारी जातिवाद विरोधी भूमिका के विरूद्ध पुराणमतवादी स्वरूप पेश किया । तुलसी के राम निषाद और शबरी को महत्व देते हैं किन्तु वर्ण व्यवस्था का पोषण करते हैं । इस सम्बन्ध में मुक्तिबोध ने कहा है - "जो भक्ति आन्दोलन जनसाधारण से शुरू हुआ और जिसमें सामाजिक कट्टरपन के विरूद्ध जनसाधारण की सांस्कृतिक आशा आकांक्षाएँ बोलती थीं, उसका 'मनुष्य सत्य' बोलता था, उसी भक्ति आन्दोलन को उच्चवर्गीयों ने आगे चलकर अपनी तरह बना लिया और उससे समझौता करके, फिर उसपर अपना प्रभाव कायम करके और अनन्तर जनता के अपने तत्वों को उनमें से निकालकर, उन्होंने उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया ।[1]

मुक्ति बोध भक्ति आन्दोलन के उदय के दो महत्वपूर्ण व्याख्याताओं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निर्णयों से अपनी आंशिक असहमति प्रकट करते हैं । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के संबंध में उन्होंने लिखा है कि - "पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के इस कथन में हमें पर्याप्त सत्य मालूम होता है कि भक्ति आन्दोलन का एक मूल कारण जनता का

---

1. मुक्ति बोध रचनावली (खण्ड-5), पृष्ठ-296

कष्ट है, किंतु पंडित शुक्ल ने इन कष्टों के मुस्लिम विरोधी वीर हिन्दू राजसत्ता के पक्षपाती जो अभिप्राय निकाले हैं, वे उचित नहीं मालूम होते ।[1] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के सम्बन्ध में लिखते हैं - "यद्यपि पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना ठीक है कि भक्ति की धारा बहुत पहले से उद्‌गत होती रही, किंतु उनके द्वारा निकाला गया यह तर्क ठीक नहीं मालूम होता कि मध्ययुगीन भक्तों की भावना में जनता के सांसारिक कष्टों के तत्व नहीं है ।[2] पुनः भक्ति काव्य के उदय के सम्बन्ध में मुक्ति बोध अपना निष्कर्ष इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं - "....... भक्ति भावना की तीव्र आर्द्रता और सारे दुःखों और कष्टों के परिहार के लिए ईश्वर की पुकार के पीछे जनता की भयानक दुःस्थिति छिपी हुई थी । ...... भक्ति आन्दोलन का अविर्भाव एक ऐतिहासिक सामाजिक शक्ति के रूप में जनता के दुःखों और कष्टों से हुआ ।"[3]

मुक्ति बोध की स्पष्ट मान्यता है कि - "किसी भी साहित्य का वास्तविक विश्लेषण हम तब तक नहीं कर सकते, जब तक कि हम उन गतिमान सामाजिक शक्तियों को नहीं समझते, जिन्होंने मनोवैज्ञानिक सांस्कृतिक धरातल पर आत्म प्रकटीकरण किया है । कबीर, तुलसीदास आदि

---

1. मुक्ति बोध रचनावली (खण्ड-5), पृष्ठ - 297
2. " " पृष्ठ - 297
3. " " पृष्ठ - 297

संतों के अध्ययन के लिए यह सर्वाधिक आवश्यक है ।[1] मुक्ति बोध तुलसीदास और उनके रामचरित मानस के सम्बन्ध में मूल्यांकन करते हुए कहते हैं कि तुलसी के राम को जनसाधारण ने अपने रक्षक के रूप में देखा, पर उनके अनुसार निषाद को अपनी छाती से लगाकर राम ने जनसाधारण के भीतर समाये हुए प्रेम एवं समता के आदर्शों को तो पूरा किया, किंतु वे वर्णाश्रम धर्म को स्वीकृत ऊँच-नीच की भावना का तिरस्कार न कर सके । यही वजह है कि मुक्ति बोध ने तुलसी के राम द्वारा स्थापित जनवाद को 'सच्चा-जनवाद' नहीं माना है । उन्होंने सच्चे जनवाद की दृष्टि से तुलसीदास को 'पुरातनवादी' कहा है जबकि उनकी दृष्टि में तुलसीदास अपनी व्यक्तिगत सफलताओं में अद्वितीय हैं । इसी प्रसंग में मुक्ति बोध, डा0 रामविलास शर्मा के विचारों से सहमत नहीं हैं । उन्होंने लिखा है - "चाहे रामविलास शर्मा जैसे 'मार्क्सवादी' आलोचक हमें 'वरगर मार्क्सवादी' या 'बुर्ज्वा' कहें, यह बात निस्सन्देह है कि समाजशास्त्रीय दृष्टि से मध्ययुगीन भारत की सामाजिक सांस्कृतिक, ऐतिहासिक शक्तियों के विश्लेषण के बिना तुलसीदास जी के साहित्य के अन्तः स्वरूप का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता ।[2]

मुक्ति बोध की भक्ति आन्दोलन के संबंध में यह समाजशास्त्रीय व्याख्या महत्व की है । मुक्ति बोध के निष्कर्षों से सहमति या असहमति

---

1. मुक्ति बोध रचनावली (खण्ड-5), पृष्ठ - 30।
2. " " पृष्ठ - 297

रखते हुए भक्ति आन्दोलन और उसके रचनात्मक परिणामों का अध्ययन ऐतिहासिक, सामाजिक संदर्भों में ही किया जाना चाहिए ।

भक्ति आन्दोलन एवं उसके विकास के सम्बन्ध में डा0 नामवर सिंह ने 'दूसरी परम्परा की खोज' में तार्किक व्याख्या की है । डा0 नामवर सिंह ने आचार्य शुक्ल एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचारों को परस्पर विरोधी रूप में दिखाया है । भक्ति काव्य के उदय संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस्लाम की प्रतिक्रिया की जो बात कही है उसे डा0 नामवर सिंह ने इतिहास की सम्प्रदायवादी धारणा से सम्बन्धित माना है । डा0 नामवर सिंह ने लिखा है - "....... ऐसा संकेत प्रतीत होता है कि भक्ति आन्दोलन को मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दुओं की प्रतिक्रिया बताने की जिम्मेदारी मूलतः साम्राज्यवादी अंग्रेज इतिहासकारो पर है, इसलिए यदि कोई भारतीय इतिहासकार उसी बात को दुहराता है तो वह अनजाने ही अंग्रेजी साम्राज्यवाद द्वारा प्रचारित भ्रम का शिकार है और इस प्रकार वह अन्ततः उस साम्राज्यवादी हित का ही समर्थन करता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह इतिहास की सम्प्रदायवादी दृष्टि है जिसका भरपूर इस्तेमाल अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने देश की हिन्दू मुस्लिम साधारण जनता को विभाजित करने के लिए किया और इस कार्य में उन्हें देशी सामन्तों और उनके सहायक पुरोहितों और मौलवियों से मदद मिली ।"[1] यहाँ यह स्पष्ट है कि भक्ति आन्दोलन के विषय

---

1. **दूसरी परम्परा की खोज** - डा0 नामवर सिंह, पृष्ठ - 71-72, **राजकमल प्रकाशन, 1982**

में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत वस्तुगत रूप से 'इतिहास की साम्राज्यवादी दृष्टि' की समझ को औचित्य प्रदान करता है ।

भक्ति आन्दोलन के सम्बन्ध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की मान्यता को डा० नामवर सिंह विवादरहित मानते हैं । डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'आलोचना' के द्विवेदी स्मृति अंक (नवांक 49-50, अप्रैल-सितम्बर 1979) में शुक्ल द्विवेदी विवाद को फिर से उठाते हुए लिखा है; - पर एक बात की ओर ध्यान दिलाये बिना यह प्रसंग अधूरा रह जायेगा । सूरदास पर कार्य करते समय विद्वानों ने प्राय: वल्लभाचार्य की इन पंक्तियों को उद्धृत किया है - "देश म्लेच्छाक्रान्त है, गंगादि तीर्थ दुष्टों द्वारा भ्रष्ट हो रहे हैं, अशिक्षा एवं अज्ञान के कारण वैदिक धर्म नष्ट हो रहा है, सत्पुरुष पीड़ित तथा ज्ञान विस्मृत हो रहा है, ऐसी स्थिति में एकमात्र कृष्णाश्रय में ही जीवन का कल्याण है ।[1] भक्त कवियों के एक प्रमुख गुरु के सीधे साक्ष्य पर यों प्रतिक्रियावाली व्याख्या पुष्ट होती है ।" डा० नामवर सिंह ने डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के इस तर्क को मानने से इनकार किया । उन्होंने लिखा है - "यह सही है कि श्रोत के इन श्लोकों मे एक जगह देश के म्लेच्छाक्रान्त' होने का उल्लेख है और यदि 'म्लेच्छ' को मुसलमानों का वाचक मान भी लिया जाय तो उससे कहाँ सिद्ध होता है कि गंगादि तीर्थो के भ्रष्ट होने, वेदों के अर्थ के तिरोहित होने, व्रतादिक सभी कर्मो के नष्ट

---

1. यह अंश दूसरी परम्परा की खोज - डा० नामवर सिह, पृष्ठ-72 पर है।

अज्ञान, आदि के बढ़ने के लिए ये म्लेच्छ ही जिम्मेदार
ाक्रमण के कारण कृष्ण का आश्रय ढूँढ़ा जा रहा है।[1]
ाह तर्क महत्वपूर्ण है ।

जारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन कि - "अगर इस्लाम
भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा
स्वयं द्विवेदी ने बारह आने भारतीय और चार आने इस्लाम
प्रभाव स्वीकारा है किन्तु डा० नामवर सिंह ने 'चार-
ई भाग को इस्लाम के आने का परिणाम है को सिद्ध
रामविलास शर्मा और प्रो० इरफान हबीब के मत को
त किया है । उन्होंने तुर्क आक्रमणकारियों की भूमिका
ामविलास शर्मा के भारतीय साहित्य का इतिहास : साहित्य
प्रतिष्ठा' शीर्षक का संदर्भ देते हुए लिखा है - "डा०
सही है कि तुर्कों ने भारत में आकर कोई 'युग परिवर्तन'
होंने सामन्तवाद को तोड़कर गण-व्यवस्था कायम की, न
फिर भी प्रश्न यह है कि 'युग परिवर्तन' न सही,
उनके आने के साथ हुआ या नहीं ? मसलन तकनीकी

परा की खोज, डा० नामवर पृष्ठ-73, राजकमल प्रकाशन, 1982

हेत्य की भूमिका, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ-16

या प्रौद्योगिकी परिवर्तन ? डा0 शर्मा का ध्यान इस ओर नहीं गया, लेकिन वे इतिहासकार जो 'हिन्दुत्व प्रेमी' नहीं हैं, इस समस्या पर निरन्तर शोध कर रहे हैं ।"[1] डा0 नामवर सिंह की मान्यता है कि भक्ति आन्दोलन के मूल में प्रमुख भूमिका उन संरचनागत एवं तकनीकी परिवर्तनों की थी जो सल्तनत काल में घटित हुए । इस सम्बन्ध में प्रो0 इरफान हबीब के शोध निबन्ध '13वीं और 14वीं सदी के संदर्भ में प्रौद्योगिकी परिवर्तन और समाज' को अपने मत के समर्थन में व्याख्यापित किया है । इरफान हबीब ने 13वीं - 14वीं सदी के तकनीकी परिवर्तनों के द्वारा सामाजिक ढाँचे में होने वाले परिवर्तनों की ओर संकेत करते हुआ लिखा है - "13वीं-14वीं सदी के ये प्रौद्योगिक परिवर्तन काफी महत्वपूर्ण थे । उन्होंने शिल्प एवं कृषि उत्पादन को बढ़ाया । व्यापारिक गतिविधि को तीव्र किया । इससे वर्ग सम्बन्धों में भी कुछ परिवर्तन आया होगा । नयी तकनीक में कुशल दक्ष कारीगर प्राप्त करने की ललक ने व्यक्तिगत नौकरी लागू करने को प्रोत्साहित किया होगा । कागज के प्रचलन से अखिल भारतीय बाजार के विकास में मदद मिली होगी ।"[2] डा0 नामवर सिंह ने प्रो0 इरफान के इस

---

1. दूसरी परम्परा की खोज - डा0 नामवर सिंह, पृष्ठ - 75, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण-1983 ।
2. मध्यकालीन भारत - सम्पादक मैकमिलन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1981

मत पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि - "यदि प्रो0 हबीब के शोध निष्कर्ष सही हैं तो स्पष्ट है कि 13वीं - 14वीं सदी में तुर्कों के कारण भारतीय समाज के सामन्ती ढाँचे के अन्दर व्यापारिक पूँजीवाद के विकास की दिशा में अवश्य ही कुछ उल्लेखनीय परिवर्तन हुए होंगे जो देर-सबेर सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करते हुए सांस्कृतिक- साहित्यिक परिवर्तन के लिए भी पृष्ठभूमि तैयार कर सके होंगे ।"[1] यहाँ नामवर सिंह ने माना है कि तुर्कों के कारण भारत में व्यापारी पूँजीवाद का विकास हुआ और 'साहित्यिक, सांस्कृतिक आन्दोलन के लिए पृष्ठभूमि तैयार हुई । इसी चिंतन क्रम में नामवर सिंह ने प्रतिपादित किया कि - "सम्भवतः यही वह चौथाई अंश है जिसके विश्लेषण की प्रक्रिया में द्विवेदी जी को इस्लाम के प्रभाव से अस्पृष्ट परम्परागत तीन चौथाई अंश का एहसास हुआ और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस्लाम और हिन्दू धर्म की टक्कर मध्यकाल के भारतीय समाज का मुख्य अन्तर्विरोध नहीं है और न इसे हिन्दी साहित्य की विकास की केन्द्रीय शक्ति ही माना जा सकता है ।"[2] स्वतः हजारी प्रसाद द्विवेदी की धारणा है कि इस्लाम के आने पर सांस्कृतिक सम्पर्क तथा टकराव के फलस्वरूप एक हद तक सामाजिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन आया । निस्संदेह

---

1. दूसरी परम्परा की खोज - डा0 नामवर सिंह, पृष्ठ-76, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण-1983
2. दूसरी परम्परा की खोज-डा0 नामवर सिंह, पृष्ठ - 77, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण-1983

सामाजिक ढाँचा मूलतः सामंती ही रहा, किन्तु ढाँचे पर खड़ी इमारत की अधिरचना में कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ ।[1]

इसी प्रसंग में समीक्षक डा० नामवर सिंह ने माना है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 'लोकधर्म' संबंधी धारणा वर्णाक्रम धर्म के निकट है, जबकि हजारी प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में 'लोकधर्म' साधारण जनों के विद्रोह की विचारधारा है । अन्तोनियोग्राम्शी के विचारों का संदर्भ देते हुए नामवर सिंह ने बताने की कोशिश की है कि रहस्यवाद तात्विक दृष्टि से लोक विरोधी, बुद्धि विरोधी विचारधारा हो सकता है किन्तु आवश्यक नहीं है कि किसी निश्चित ऐतिहासिक संदर्भ में उसकी भूमिका लोक विरोधी हो। उन्होंने लिखा है - "किसी जन विद्रोह की लोकप्रिय विचारधारा का मूल्यांकन 'ऐतिहासिक' दृष्टि से उचित है 'तात्विक दृष्टि' से नहीं ।"[2] इसी प्रक्रिया में नामवर सिंह का मानना है कि निर्गुण पंथ कें रहस्यवाद को उन ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों और आवश्यकताओं के संदर्भ में रखकर समझा जाना चाहिए, केवल एक दार्शनिक विचार की तरह नहीं । उन्होंने लिखा है- "सामन्ती युग के असंगठित किसानों एवं दस्तकारों के विविध वर्गों-उपवर्गों की मिली जुली भावनाओं का पुन्ज होने के कारण और शास्त्र वंचित विविध

---

1. दूसरी परम्परा की खोज - डा० नामवर सिंह, पृष्ठ - 77, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण-1983
2. वही, पृष्ठ - 82

दलित जातियों और जनसमूह की मानसिक अभिव्यक्ति होने के कारण इस 'लोकधर्म' का अव्यवस्थित और अनिश्चित होना अनिवार्य है ।"[1] मार्क्सवादी चिंतक अन्तोनियोग्राम्शी के मत से डा0 नामवर सिंह यह दिखाते हैं कि ऐसे वर्गों का विद्रोह अक्सर किस प्रकार अल्पसंघटित परस्पर उलझे हुए विचारों की भाषा में व्यक्त होता है और उनमें लोकवार्ताओं, मिथकों और रोजमर्रा के लोकप्रचलित अनुभवों का पंचमेल होता है ।[2]

हजारी प्रसाद द्विवेदी का मानना है कि साहित्य की एक प्राणधारा के अन्तर्गत अनेक अन्तर्धारायें होती हैं जिनमें परस्पर सहभाव के साथ कभी-कभी टकराव की भी सम्भावना होती है । नामवर सिंह लिखते हैं - "शायद यही वजह है कि जितने विश्वसनीय ढंग से वे हिन्दी साहित्य की प्राणधारा का दिग्दर्शन कराते हैं, अन्तर्धाराओं के अन्तर्विरोध का निरूपण उतनी स्पष्टता से करते प्रतीत नहीं होते ।[3] इसी प्रसंग में डा0 नामवर सिंह ने अपनी जिज्ञासा व्यक्त की है - "...... भक्ति आन्दोलन में उत्तरोत्तर शास्त्र का सहारा लेने वाली कृतियाँ साहित्यिक दृष्टि से श्रेष्ठतर होती गयी । यह भी एक

---

1. दूसरी परम्परा की खोज - नामवर सिंह, पृष्ठ - 81, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण-1983
2. वही, पृष्ठ - 81
3. वही, पृष्ठ - 86

विरोधाभास ही है कि शास्त्र संवलित होकर साहित्य जिस मात्रा में सामाजिक दृष्टि से लोक विमुख और लोक विरोधी विचारों की ओर विचलित होता गया, काव्यभाषा तथा काव्यकला की दृष्टि से उसी मात्रा में सम्बद्धतर होता गया । कबीर से चलकर जायसी, सूर, तुलसी तक के विकास का मूल्यांकन इसी दृष्टि से रोचक हो सकता है ।[1] यहाँ डा० नामवर सिंह का मानना है कि भक्ति कवि क्रमशः लोकधर्म से दूर होते गये और उनपर शास्त्रीयता का प्रभाव निरन्तर बढ़ता गया ।

भक्ति - आंदोलन के उद्‌भव का प्रश्न इसलिए जरूरी है कि यह भक्ति साहित्य की अंतर्वस्तु व अंतचैतना के विश्लेषण का आधार है। जिस साहित्य में मानव मूल्यों की इतनी गहरी प्रतिष्ठा हो तथा जिस साहित्य का मूल स्वर ही मानवतादी हो; उसे 'प्रतिक्रिया स्वरूप' पैदा हुआ साहित्य (या आंदोलन) मानना बहुत कठिन है । भक्ति आंदोलन और साहित्य में व्यक्त मुक्ति चेतना में कवि के 'निज' की रक्षा तो की ही गयी है, सामाजिक मुक्ति के स्वर भी उसमें गूँजते हुए सुनाई पड़ते हैं ।

---

1. दूसरी परम्परा की खोज - नामवर सिंह, पृष्ठ - 86, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण-1983
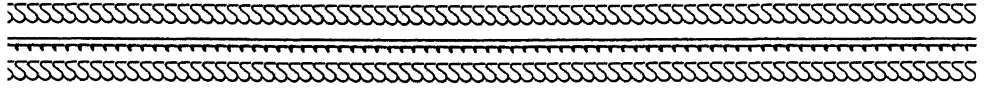
द्वितीय अध्याय

भक्तिकालीन समाज की सांस्कृतिक संरचना
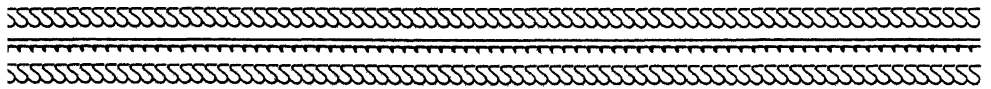
भक्तिकालीन समाज की सांस्कृतिक संरचना

मध्यकालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ: -

साहित्य समाज का दर्पण है । साहित्यकार किसी रचना के लिए अपनी कल्पना का सहारा अवश्य लेता है, किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों की स्पष्ट छाप उसके लेखन में देखने को मिलती है । परिस्थिति चाहे राजनीतिक हो, सामाजिक, आर्थिक हो या सांस्कृतिक, उन सभी की छाया साहित्य पर पड़ती है । रचना में परिवेश का प्रभाव पड़ना अत्यन्त स्वाभाविक है ।

भक्ति आन्दोलन का उदय एक लम्बी परम्परा का सहज विकास है, किन्तु उत्तर भारत में जिस समय इस आन्दोलन का विस्तार हो रहा था उस समय की राजनीतिक परिस्थिति ने इस आन्दोलन को और व्यापक किया है । उत्तर पश्चिम से कई आक्रमणकारी भारत में प्रवेश करते रहे। कुछ ने केवल लूटपाट किया और वापस लौट गये, कुछ ने यहाँ अपना शासन भी स्थापित किया । हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के इस सुदीर्घ समय को राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है । प्रथम भाग-1375 से 1583 संवत् तक एवं द्वितीय भाग 1583 से 1700 संवत् तक । प्रथम भाग के अन्तर्गत तुगलक एवं लोदी वंश के शासनकाल का उल्लेख किया जा सकता है तथा द्वितीय भाग में मुगलवंश के बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ का शासनकाल उल्लेखनीय है ।

राजनीतिक दृष्टिकोण से यह युग अत्यन्त अव्यवस्था एवं सांस्कृतिक द्वन्द्व का था । मुहम्मद गोरी के विजित प्रदेशों पर तुर्कों की सल्तनत स्थापित हुई । बलवन, अलाउद्दीन आदि सुल्तान तथा उनके सरदार साम्राज्य विस्तार के कार्य में सफल भी हुए किन्तु उनके अशक्त उत्तराधिकारियों द्वारा उसकी रक्षा न हो सकी । अलाउद्दीन खिलजी तथा तुगलक ने सतत् प्रयासों से केन्द्रीय शासन को सुदृढ़ बनाकर अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया किन्तु उनके आँखे मूँदते ही सब कुछ चौपट हो गया । फलतः चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शताब्दियों में बहुत से मुसलमानों तथा हिन्दुओं के प्रादेशिक राज्य उठ खड़े हुए । तुर्क शासक विदेशी होते हुए भी इस देश को अपना चुके थे । उनमें कुछ की धमनियों में हिन्दू रक्त था । तुर्कों के पीछे पठानों का राज्य हुआ । उनके पूर्वज हिन्दू या बौद्ध थे । अतएव ये लोग एक प्रकार से विदेशी नहीं रह गये थे ।

1295 ई0 में अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली की गद्दी पर बैठा। उसने मालवा एवं महाराष्ट्र को जीता । गुजरात की विजय के बाद उसने राजपूताना को तीन ओर से घेर लिया तथा रणथम्भौर, चित्तौड़, जालोर तथा भिन्नमाल आदि प्रदेश जीत लिया । इस प्रकार दक्षिण भारत में मुस्लिम शासन पहुँचा । अलाउद्दीन के मृत्यु के बाद दिल्ली का शासन कमजोर पड़ गया किन्तु गयासुद्दीन तुगलक ने पुनः 1320 ई0 में उसमें जान डाली। उसने बंगाल को जीतकर दक्षिण में महाराष्ट्र तथा आन्ध्र प्रदेश तक अपना

राज्य स्थापित किया । मुहम्मद बिन तुगलक (1325 से 1351 ई0 तक) से लेकर इब्राहीम लोदी (1518-1526 ई0 तक) तक सोलह शासक दिल्ली के सिंहासन पर बैठे, जिनके प्रमुख कार्य आक्रमण तथा युद्ध ही रहे । राज्य लिप्सा में पड़कर ये शासक निरन्तर युद्ध ही करते रहे जिससे क्षुब्ध होकर जनता में घोर असन्तोष हो गया । इस समय की राजनीति पतनोन्मुख हो रही थी, जिसका कारण यह था कि वह पवित्रता तथा सत्य से बहुत दूर होकर कूटनीति, हिंसा तथा छल-छद्म पर आधारित थी । परिणामतः ऐसे शासकों के प्रति, जिनका दृष्टिकोण ही छल-दम्भ-मय था, जनता की कोई भी सहानुभूति नहीं रह गई थी और वह "कोई नृप होउ" की मनोवृत्ति से राजनीति के प्रति उदासीन हो गई थी ।

कुछ काल के उपरान्त प्रान्तीय शासकों में स्वतंत्रता की प्रवृत्ति आने लगी । दिन प्रतिदिन कोई न कोई प्रान्तीय शासक स्वतंत्रता की घोषणा करता और दिल्ली सम्राट उस पर चढ़ाई करके उसे अपने अधीन करता । मेवाड़ में हम्मीर सिसोदिया 1326 ई0 में स्वतंत्र हो गया । उन्हीं दिनों विजयनगर के हिन्दू राज्य का उदय हुआ । मदुरा एवं बंगाल में दिल्ली सल्तनत के सूबेदार स्वतंत्र मुसलमान बन बैठे, दक्षिण में बहमनी सल्तनत की स्थापना हो गई । इन्हीं दिनों दक्षिण में विजयनगर और बहमनी राज्यों में संघर्ष चलता रहा ।

पन्द्रहवीं शताब्दी क्षेत्रीय शासकों का युग है । इसमें राजस्थान में मेवाड़ की उन्नति हुई । महाराणा लाखा, चूड़ा एवं कुम्भा के शासनकाल में वह प्रमुख शक्ति बन गया । मालवा, गुजरात, बंगाल, जौनपुर, कश्मीर में स्वतंत्र रियासतें थीं । तिरहुत में कामेश्वर नामक ब्राह्मण ने हिन्दू राज्य की स्थापना की । बुन्देलखण्ड में गाहड़वाल वंशज बुन्देला सरदार राज्य करने लगे । उड़ीसा में सूर्यवंशी कपिलेन्द्र ने स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। बहमनी सल्तनत के टूट जाने पर उसके स्थान पर चार छोटे-छोटे राज्य कायम हो गये । पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में पठानों ने दिल्ली ले ली वे बिहार तक फैल गये, पर वे दिल्ली को साम्राज्य न बना सके । सोलहवीं शताब्दी के मध्य में जब बाबर ने आक्रमण किया तब उस समय सभी स्वतंत्र प्रादेशिक राज्य थे । उस समय भारत के प्रमुख शासक पश्चिम प्रान्त में मेवाड़ का राणा सांगा और दक्षिण में विजयनगर के कृष्णदेवराय थे । बाबर ने 1526 ई0 में पानीपत के मैदान मे युद्ध के नवीन उपकरणों के प्रयोग से इब्राहीम लोदी को पराजित किया । दिल्ली से आगे बढ़ते ही उसकी राणा सांगा से मुठभेड़ हुई वहाँ भी बाबर के हाथों राणा की पराजय हुयी। सांगा के पश्चात् राजपूतों में प्रतिरोध की शक्ति न रही । पठानों ने हिम्मत न हारी और प्रतिरोध जारी रखा । पठान शेरशाह सूरी ने साधनों के अभाव में भी हुमायूँ को पराजित किया । शेरशाह के समय में ही हिन्दी का अमर काव्य 'पद्मावत' लिखा गया । शेरशाह के उत्तराधिकारी अयोग्य निकले और उधर मुगलों का नेतृत्व अकबर जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति के हाथ में था ।

दिल्ली के सम्राट अकबर के सामने देश के छोटे-छोटे हिन्दू और मुसलमान राजाओं ने एक-एक कर घुटने टेक दिये । अकबर के समय में भी मेवाड़ के राणा प्रताप ने उसकी अधीनता न मानी और आजीवन लड़ता रहा । प्रताप का पुत्र अमर सिंह जहाँगीर से सोलह वर्ष लड़ा पर अन्त में उसने अधीनता स्वीकार कर ली । शाहजहाँ के काल में बुन्देलखण्ड में चम्पतराय और महाराष्ट्र में शिवाजी की स्वतंत्रता की चेष्टायें प्रकट हुईं ।

इस पूरे मध्यकालीन राजनीतिक वातावरण से स्पष्ट है कि विदेशी आक्रांताओं के द्वारा कुछ क्षणों, घण्टों या दिनों में भारत पर आधिपत्य स्थापित नहीं हुआ बल्कि उन्हें देशी शासकों के प्रतिरोध का बुरी तरह सामना करना पड़ा । यहाँ के शासक अंतिम दम तक स्वाधीनता और अपने अस्तित्व-रक्षा के लिए संघर्ष करते रहे । यहाँ के शासकों में किसी भी प्रकार की निराशामय पराजित मनोवृत्ति नहीं थी और न ही उस समय का साहित्य निराशमय परिस्थितियों की उपज है ।

निःसंदेह इस काल में कतिपय कट्टर तथा साम्प्रदायिक मुस्लिम शासकों द्वारा हिन्दू जनता पर अत्याचार भी किये गये किन्तु सभी विदेशी संकीर्ण हृदय के नहीं थे । यदि हिन्दू जनता दुःखी थी तो इसके साथ-साथ मुस्लिम प्रजा भी सुखी नहीं थी । धर्म के आधार पर शिया एवं सुन्नी लोगों में विद्वेष की आग सुलगती रहती थी । अरबी, तुर्की, ईरान तथा अफगान

आदि मुसलमान आपस में संघर्ष करते रहते थे । शासक वर्ग में भी राज्य लिप्सार्थ निर्मम हत्याओं का सिलसिला चलता रहता था । इल्तुतमिश के सिर पर आरामशाह का खून है । रजिया तथा नासिरुद्दीन ने अपने कई भाइयों को पद से वंचित करके राज्य प्राप्त किया । रजिया एवं उसके प्रेमी का बध हुआ । अलाउद्दीन खिलजी ने अपने चाचा तथा मुहम्मद तुगलक ने अपने पिता की हत्या करके राज्य प्राप्त किया था । मुगल सम्राटों में शहजादा खुर्रम को अपने कुल के बहुत से लोगों को ठिकाने लगाना पड़ा और औरंगजेब ने राज्य प्राप्त करने के लिए क्या कुछ नहीं किया । अकबर, जहाँगीर एवं शाहजहाँ के समय को छोड़कर मुस्लिम काल का शेष सारा समय गृह कलह, मार-काट तथा विदेशी आक्रमणों के आतंक तथा युद्ध का काल रहा है ।

सभी मुसलमान शासक हिन्दुओं के प्रति अनुदार एवं असहिष्णु नहीं थे । बहुत से मुस्लिम शासकों ने संस्कृत तथा देशी भाषाओं के साहित्य संगीत और कला को प्रोत्साहन दिया । जौनपुर के सुल्तानों ने शास्त्रीय संगीत का पुनरुद्धार करवाया और 'संगीत शिरोमणि' नामक ग्रन्थ संस्कृत में तैयार हुआ । हुसैनशाह बंगाली ने महाभारत एवं भागवत् ग्रन्थों का बंगला भाषा में अनुवाद करवाया । मुसलमान शासकों के मंत्री एवं सलाहकार अधिकांश हिन्दू थे । हुसैनशाह बंगाली का मंत्री गोपीनाथ वसु था । कश्मीर के सुल्तान शहाबुद्दीन के मंत्री उदयजी और चन्द्रडामर थे । वहीं के सुल्तान सिकन्दर

का मंत्री सूह भट्ट ब्राहमण था जो कि मूर्ति पूजा का विरोधी था । उसने कई मन्दिरों की मूर्तियाँ तुड़वा दी थी - इस कृत्य से सिकन्दर 'बुतशिकन' नाम से प्रसिद्ध हुआ परन्तु उसके पुत्र जैनुलाबुद्दीन ने उन मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया । उस समय हिन्दू शासकों के द्वारा भी साहित्य, संगीत तथा अन्य ललित कलाओं को प्रोत्साहन मिला । इसमें विजयनगर के राजाओं और मेवाड़ के राणा कुम्भा का विशिष्ट स्थान है । अकबर एवं उसके वंशजों के प्रशासन में हिन्दी को बराबर आश्रय मिलता रहा । हिन्दू धर्म के कट्टर विरोधी औरंगजेब ने भी अपने दरबार में हिन्दी कवियों को स्थान दिया था ।

इस प्रकार राजनीतिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो यह युग अत्यन्त अव्यवस्था एवं सांस्कृतिक द्वन्द्व का युग था । राज्य लिप्सा में निरन्तर होते युद्धों से जनता क्षुब्ध थी । मध्यकाल के शासकों ने शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने के स्थान पर धर्मान्ध प्रचार एवं आक्रमणों में समय नष्ट किया कराल दण्ड से भयभीत जनता में हीन भावना की जो ग्रन्थि पड़ गई थी वह लम्बे समय के बाद भी न सुलझ सकी । इसका संकेत तुलसीदास की रचनाओं में प्राप्त होता है ।[1]

---

1. गोंड गँवार नृपाल महि, यवन महा महिपाल ।
   साम न दाम न भेद कहु, केवल दण्ड कराल ।।

   - तुलसीदास (दोहावली) संस्करण प्रका0

तुलसीदास के शब्दों में विगत शताब्दियों की मूक जनता का आक्रोश मर्मस्पर्शी चीत्कारों में फूट पड़ा है । उस समय अत्याचार तथा अनीति का प्रचार अधिक था । तुलसीदास ने निशाचरों को प्रतीक बनाकर तत्कालीन वातावरण का चित्र उपस्थित किया है -

बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जे करहिं ।
हिंसा पर अति प्रीति, तिन्हके पापहिं कवनि मिति ।।[1]

इतना ही नहीं तत्कालीन शासकों का झुकाव कामुक प्रवृत्ति की ओर भी कम नहीं था । पठान काल में कुमारियों को बलपूर्वक अपहरण करने की दुर्नीति का प्रतीक चित्र देखिये -

'देव जच्छ गन्धर्व नर, किन्नर नाग कुमारि ।
जीति बरीं निज बाहुबल, बहु सुन्दर बर नारि ।।'[2]

इस प्रकार इस काल की राजनीति सुल्तानों के रक्त पिपासु दाँव-पेंचों एवं सामन्तवादी षडयंत्रों के नागपाश में पलती रही । साहित्य अपने युग, देश-काल से प्रभाव ग्रहण करता है - यह स्वाभाविक है । पर यह

---

1. रामचरित मानस - बालकाण्ड - 183, प्रकाशन
2. रामचरित मानस - बालकाण्ड - 182, प्रकाशन
(इसी संदर्भ में 'आइन-ए-अकबरी' में अबुल फजल ने सम्राट अकबर के हरम का वर्ण किया है)

सम्बन्ध हमेशा सपाटन नहीं होता है । यह संबंध ऋजु एवं जटिल भी होता है । साहित्य समाज का दर्पण भी होता है और उसका पथ प्रदर्शक भी, उसकी समीक्षा भी । यह साहित्य और समाज के अन्तर्सम्बंधों की जटिलता है । भक्तिकालीन साहित्य भी इस दोहरी भूमिका का निर्वाह करता है। भक्तिकाल के चार प्रमुख कवियों - कबीर, जायसी, तुलसी और सूर की वर्ण्य सामग्री युग के राजनीतिक वातावरण के प्रतिकूल है । इन भक्तों की वाणी धर्म एवं शान्ति प्रधान रही ।

सामाजिक परिस्थिति:-

राजनीति एवं धर्म की प्रयोग भूमि ही समाज है । राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के अव्यवस्थित होने पर समाज के आचरण एवं व्यवहार में भिन्नता आ जाती है । मध्ययुगीन धर्मप्रेरित राजनीति की अव्यवस्थित छाया में पलने वाली सामाजिक परिस्थिति किस अंश तक अपने संतुलन को बनाये रखेगी, यह सहज रूप में ही समझा जा सकता है मुस्लिम आक्रमण भारतीय समाज विभाजन में नवीन कड़ियाँ जोड़ता है । इस युग में समाज दो वर्गों में विभाजित था । पहला था - राजन्य वर्ग तथा दूसरा था सामान्य वर्ग । यह राजन्य वर्ग ही समाज के सम्पूर्ण कार्य व्यापारों का नियमन करता था । प्रजा पर शासन करता था तथा उसका शोषण करता था । प्रजा के दुध मुँहे बच्चों के आँसुओं से राजाओं के मुक्ताहार पिरोये जाते थे । कृत्रिम-दर्प एवं खोखले आत्म प्रदर्शन की ऐंठ में वे आपस में ही लड़ झगड़ रहे थे ।

इस भोग लिप्सा के नाटकीय संघर्ष की चोटें जन-जीवन को सहनी पड़ रही थीं । प्रजा-पालन का ढोंग आत्म-प्रवंचना मात्र था । सुल्तान तथा हिन्दू राजागण विलासिता के मोह सम्वरण से अपने को बचा न सके । इनके जीवन का सबसे अधिक आकर्षण उद्दाम यौवन की अमिट बुभुक्षा थी । प्रान्तीय शासक इसी में अपना सम्मान समझते थे कि दिल्ली के शासकों को कर देकर भोग विलास की वंशी बजाई जाय । इसीलिए विशाल अन्तःपुर का होना उस युग का अनिवार्य फैशन हो गया था। राजन्य वर्ग के विपरीत सामान्य वर्ग का जीवन अत्यंत दयनीय एवं दुःखी था, क्योंकि शासकों, सामन्तों द्वारा इनका शोषण हो रहा था । आपत्ति के बादल इनके ऊपर सदैव मंडराते रहते थे । शासकों द्वारा पहुँचाई गई चोटों से इनका हृदय विदीर्ण हो जाता था। फिर भी 'बुभुक्षणाम् किं न करोति पापम्' से प्रभावित ये 'येन केन-प्रकारेण' दबी साँस लेते हुए जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति में लगे रहे थे । निर्धनता एवं विपन्नता के कारण यह वर्ग दुर्व्यसनों से मुक्त तथा ईमानदार था, किन्तु उसकी सच्चाई एवं ईमानदारी का उचित मूल्यांकन नहीं हो पाता था । कुल मिलाकर इस वर्ग की स्थिति अत्यन्त सोचनीय थी ।

भक्तिकाल समाज बहुत हद तक आज के भारतीय समाज के ही समान था । डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय के अनुसार "सामाजिक दृष्टि से वर्तमान समय में जो जाति व्यवस्था प्रचलित है उसका निश्चित रूप इसी

काल में निर्धारित हुआ । विवाहादि एवं खान-पान के मामले में जो प्रतिबन्ध पहले से चला आ रहा था उसे और कठोर बनाया गया ।" जाति व्यवस्था के कारण व्यक्ति के अंदर की प्रतिभा कुन्ठित रह जाती थी । जातीय बंधन इतने कठोर हो चले थे कि चाह कर भी कोई तोड़ नहीं सकता था । इतिहासकार अलबरुनी लिखता है कि "ये (हिन्दू) किसी को अपनी जाति बदलने नहीं देते थे । जो अपनी जाति का उल्लंघन करता उसे सदैव रोक दिया जाता।" जाति व्यवस्था ने जहाँ एक ओर समाज को टुकड़ों में विभक्त कर दिया था वहीं इसके कारण राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास भी नहीं हो पाया ।

समाज में स्त्रियों की दशा सोचनीय थी । उन्हें कई तरह के बंधनों में रहना पड़ता था पहले वह पिता के आश्रय में रहती फिर पति के और फिर पुत्र के । स्वेच्छा से कोई भी कार्य करने का अधिकार उनके पास नहीं था । सती प्रथा प्रचलित थी । पति की मृत्यु के बाद उसे बिना इच्छा के चिता पर ढ़केल दिया जाता था । परदा प्रदा उस समय की आवश्यकता बन गई थी ।

इस्लाम की समानता की भावना ने यहाँ के दलित, पिछड़े एवं अधिकार से वंचित जातियों को आकृष्ट किया । अधिक संख्या में लोगों ने इस्लाम धर्म स्वीकार किया । सरकारी सेवाओं में नव-इस्लाम धर्मावलंबियों

को लिया जाने लगा । इस प्रकार ये नव इस्लाम धर्मावलम्बी हिन्दू एवं मुसलमान जनता के बीच की कड़ी बने । समाज में धीरे-2 शांति का वातावरण कायम होने लगा । सामाजिक बुराईयों को दूर करने के लिए तत्कालीन संतों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । धार्मिक भेदभाव दूर करने का महान् प्रयास आरम्भ हुआ । सूफी साधकों ने इस क्षेत्र में अपनी प्रेम भावना का प्रयोग किया और उन्हें सफलता मिली । ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्तिया सम्प्रदाय के साथ आये हुए इस धार्मिक सम्प्रदाय में प्रेम की भावना समर्पित थी । इस सम्प्रदाय के कई कवियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से सामाजिक भेदभाव को दूर करने का प्रयास किया । भक्तिकाल का समाज परिवर्तन के दौर का समाज था । एक ओर रुढ़िवादी सामाजिक वर्ग परम्परा को बनाये रखने के पक्षधर थे तो दूसरी ओर प्रगतिशील सामाजिक वर्ग परिवर्तन चाहते थे । राजनीतिक स्थिति ने सामाजिक स्थिति को प्रभावित किया । कारीगर वर्ग की आर्थिक स्थिति में सुधार ने जहाँ दलित जातियों एवं दबे कुचलों में आत्म सम्मान को बढ़या वहीं शहरों के विकास ने इनमें आर्थिक स्थिति को मजबूत बनाया । भक्तिकाल में कवियों ने सामाजिक सुधार के लिए आन्दोलन चलाया । उनका आन्दोलन लोगों में विचार परिवर्तन तथा हृदय परिवर्तन का आंदोलन था । वे शक्ति के बल पर एक नया समाज बनाना चाहते थे । संतों भक्तों का आन्दोलन लोकप्रिय हुआ और उनके कार्य सफल हुए । कबीर ने जाति बंधन की परम्परा को तोड़ने के लिए अभूतपूर्व प्रयास किया । इस समय लोग अनेक सम्प्रदायों में बँटे थे, जिससे

पारस्परिक वैमनस्य बढ़ रहा था । सभी अपने-अपने मद में चूर थे -

पंडित जनमाते पढ़ि पुराण ।

जोगी माते जोग धियान ।।

सनिआसी माते अहंमेव ।

तपसी माते तप कै मेव ।।

सभ मदमाते कोऊ न जाग ।

संग ही चोर घर मुसन लाग ।।[1]

मध्ययुगीन सामाजिक वातावरण अव्यवस्थित था । इसीलिए कबीर ने अनुभूति सम्पन्न संत होते हुए भी, समाज सुधार पर अधिक बल दिया ।

धार्मिक परिस्थितिः-

धार्मिक दृष्टि से भक्तिकाल परिवर्तन का काल था । उस समय की धार्मिक परिस्थिति को दो भागों में बाँटा जा सकता है -

(क) बौद्ध धर्म की विकृत यंत्र पतनशील स्थिति

(ख) वैष्णव धर्म की परम्परागत स्थिति

इनके अतिरिक्त एक तीसरी धार्मिक धारा ने भी भारत में स्थान

---

1. संत कबीर, पृष्ठ - 23।

बनाया जिसे 'सूफी-धर्म' कहते हैं । कुछ इतिहासकारों का मानना है कि 'सूफी-दर्शन' इस्लाम के प्रचार की पृष्ठभूमि तैयार कर रहा था ।

महात्मा बुद्ध के महानिर्वाण के पश्चात् बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायों में विभक्त हुआ - हीनयान तथा महायान । हीनयान में सिद्धान्त पक्ष की दार्शनिक जटिलता थी । अतः उस पर बहुत कम लोगों की आस्था टिक सकी । महायान में सिद्धान्त के स्थान पर व्यवहार पक्ष की प्रधानता थी। उसमें आचार सम्बन्धी पवित्रता को ही निर्वाण का साधन माना गया और उसमें सभी वर्गों के लोगों को सम्मिलित होने की आज्ञा मिली । हीनयान अधिक कट्टरता के कारण संकुचित होता चला गया और महायान अधिक उदारता के कारण विकृत । शंकर तथा कुमारिल भट्ट ने बौद्ध धर्म पर तीखा प्रहार किया और वैदिक धर्म का पुनरुद्धार करने का प्रयास किया। जनता शंकर धर्म के उपदेशों से आकृष्ट हुई । महायान सम्प्रदाय ने जनता के अशिक्षित वर्ग को तंत्र-मंत्र, तथा चमत्कार के वशीभूत किये रखा, इसी कारण कालान्तर में उसका नाम मन्त्रयान पड़ा । इसके साथ ही वाममार्ग भी चल रहा था, जिसमें स्त्रियों को वश में करने के लिए नाना प्रकार के जन्त-मंत्र, अभिचार आदि का प्रयोग किया जाता था । मन्त्रयान ने वाम मार्ग की मद्य, माँस, मैथुन, मुद्रा आदि अनेक मुद्राओं को अपना लिया । मन्त्रयान से वज्रयान निकला और उसमें चौरासी सिद्ध दीक्षित हुए । सिद्धों ने जन्त्र-मंत्र शैली को अपनाते हुए उसमें क्रान्ति मूलक परिवर्तन किये । नाथ सम्प्रदाय

सिद्धों का बढ़ा हुआ पारिष्कृत रूप है । सिद्धों एवं नाथों की मुख्य मान्यतायें संत मत की धार्मिक भूमि बनी ।

उत्तर में भक्ति की लहर दक्षिण से आई । शंकर से बहुत पहले दक्षिण में आलवार संतों में भक्ति का प्रसार एवं प्रचार हुआ । शंकर ने बौद्ध धर्म के विरोध में अद्वैतवाद का प्रचार किया । इसकी प्रतिक्रिया में अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय चल निकले जिनमें नारायण की भक्ति पर विशेष बल दिया गया और जनता को भक्ति का स्थूल आश्रय मिला । उसमें विष्णु के अवतारों राम एवं कृष्ण की कल्पना हुई । रामानन्द ने भक्ति का द्वार सबके लिए खोला और जनभाषा में अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया । इनके पूर्व के आचार्यों ने संस्कृत भाषा में अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया था और उनके उपदेश शिक्षित जनता तक ही सीमित थे ।

धार्मिक दृष्टि से भक्तिकाल परिवर्तन का काल था । भक्तिकाल के प्रारम्भिक दिनों में वैदिक धर्म का क्षीण रूप मिलता है । वैदिक देवताओं इन्द्र, वरुण, रुद्र की जगह अब विष्णु एवं शक्ति के विभिन्न रूपों की पूजा होने लगी । धार्मिक कर्मकाण्ड को बढ़ावा मिला । पुरोहित वर्ग अंधविश्वास का लाभ उठाकर जनता का शोषण कर रहे थे । भारत की राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन के साथ सामन्तों का प्रभाव घटने लगा । नव-अमीर वर्ग के उदय से सामन्तों की शक्ति समाप्त प्राय हो गई । पुरोहितों के

अधिकार का खात्मा भी होने लगा । दक्षिण में शुरु की गई भक्ति की लहर उत्तर की ओर आ रही थी । निम्न वर्ग से आये संतों साधुओं ने इस भक्ति की लहर को अपनाया और उसे फैलाया । इस्लाम की बन्धुत्व भावना ने भी भक्ति को बढ़ाने में सहायता पहुँचाई । इस प्रकार रुढ़ियुक्त धर्म के स्थान पर सरल साधारण धर्म की शुरूआत हुई । बाहरी कार्य व्यापार के स्थान पर हृदय पक्ष को महत्व दिया गया ।

धार्मिक क्षेत्र में इस काल में एक बड़ा परिवर्तन आया । धीरे-धीरे विभिन्न देवी देवताओं के स्थान पर एक देव की पूजा की भावना बढ़ने लगी । निर्गुण उपासक संत हों या सगुण उपासक भक्त, सभी ने एक ब्रह्म की उपासना पर जोर दिया । विष्णु के अवतारी रूप कृष्ण और राम की पूजा का प्रचलन तो प्रमुख हो चला था, किन्तु सभी उन्हें एक ही शक्ति के अवतार के रूप में मानते थे ।

तत्कालीन उपदेशकों ने सम्प्रदायों की स्थापना की किन्तु उनका उद्देश्य नया वर्ग बनाना नहीं था । वे समाज को एकता के सूत्र में बाँधना चाहते थे । सिक्ख सम्प्रदाय के संस्थापक गुरु नानक ने लोगों में एकता स्थापित करने के लिए सिक्ख पंथ की स्थापना की । सभी संतों की वाणियों को उन्होंने समान रूप से महत्व दिया । एक नये धर्म इस्लाम का आगमन हो चुका था । नानक ने धार्मिक भेदभाव को दूर करने का प्रयास किया।

उनका कहना था कि राम एवं रहीम एक हैं और हम सब उनके बन्दे हैं । इस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में समन्वय की भावना का विकास होने लगा था । सूफी सम्प्रदाय के आगमन से हिन्दू एवं मुसलमान दोनों करीब आने लगे । प्रेम-भावना और लोकतत्व ने इस सम्प्रदाय को जनता में लोकप्रिय बना दिया । केवल संतों एवं फकीरों के द्वारा ही नहीं बल्कि तत्कालीन कई शासकों ने धार्मिक क्षेत्र में समन्वय की भावना को बढ़ावा दिया । कई मुगल सम्राटों ने धार्मिक एकता की बातें कहीं । मुगल सम्राट अकबर ने एक ऐसे धर्म की कल्पना की जिसमें सभी धर्मों का निचोड़ समाहित हो अपने धार्मिक विश्लेषण के आधार पर ही उसने 'दीन-ए-इलाही' का प्रवर्तन किया था । धार्मिक क्षेत्र में परिवर्तन के इस दौर में कई सामाजिक रुढ़ियों को तोड़ा गया ।

सांस्कृतिक व आर्थिक संरचना:-

भक्तिकाल सांस्कृतिक दृष्टि से एक समन्वित संस्कृति के विकास का काल था । समन्वयवाद भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषता है । पुराणों में समन्वयात्मक प्रवृत्ति को पुनर्जागृत करने का प्रयास किया गया है । उनमें पूजा उपासना और कर्मकाण्ड में दर्शन का पुट दिया गया है। मूर्ति पूजा, तीर्थ यात्रा, धर्म शास्त्रों का सम्मान, कर्मफल में विश्वास, अवतारवाद और ब्राह्मण की पूजा पौराणिक धर्म की विशेषतायें हैं, जिनका अनुगुंजन सगुण भक्ति साहित्य में सर्वत्र मिलता है । तुर्कों के आगमन से भारत की

राजनीति में परिवर्तन आया । मुसलमानों के आगमन से पूर्व भारत में कई प्रकार की जातियाँ आ चुकी थीं । भारतीय संस्कृति पर उन जातियों का प्रभाव पड़ा एवं एक मिली जुली संस्कृति का विकास हुआ । इस्लाम धर्मावलंबियों के आगमन से सांस्कृतिक हलचल पैदा हुई । लोगों के रहन-सहन, मनोरंजन के साधन, शिक्षा, साहित्य, स्थापत्य कला, मूर्तिकला, चित्रकला में भी परिवर्तन आया । कई बादशाह परम्परा से चले आ रहे उत्सवों में भाग लेते थे एवं कला, साहित्य की उन्नति में दिलचस्पी रखते थे ।

सामन्त एवं अमीर वर्ग का जीवन विलासमय था । समाज का मध्यम वर्ग सादा जीवन करता था इस वर्ग के अन्तर्गत राजकर्मचारी, व्यापारी एवं शिल्पी आते थे । साधारण प्रजा की हालत अच्छी नहीं थी । उनसे जबरदस्ती बेगार लिया जाता था । मध्यकालीन धर्म साधना में पूर्ववर्ती सभी धर्म साधनाएँ किसी न किसी रूप में बनी रहीं । शैव, शाक्त, भागवत जैसे-प्रमुख धर्मों में ज्ञान, योगतंत्र एवं भक्ति की प्रवृत्तियों का समन्वय होने लगा। योग का प्रभाव उस समय इतना था कि भक्ति, ज्ञान और कर्म के साथ योग शब्द को जोड़ा जाना आवश्यक समझा जाने लगा ।

समन्वयात्मकता की प्रवृत्ति धर्म के समान मूर्ति एवं वास्तु कलाओं में भी देखी जा सकती है । एलोरा के समीप कैलाश मन्दिर में शिव की मूर्ति के सिर के ऊपर बोधिवृक्ष स्थित है । चम्बा नरेश अजय पाल के

शासन काल में उत्कीर्ण वरुण, ब्रह्मा और शिव के साथ बुद्ध भी हैं । खजुराहो सें उपलब्ध कोक्कल के बैधनाथ मन्दिर वाले शिलालेख में ब्रह्म, जिन बुद्ध तथा वामन को शिव का स्वरूप कहा गया है । भक्ति आन्दोलन इस समन्वयवादी चेतना से और समृद्ध हुआ ।

इस काल में हिन्दू एवं मुस्लिम संस्कृतियाँ एक दूसरे के निकट आईं । संगीत, चित्र तथा भवन निर्माण कलाओं में दोनों संस्कृतियों के उपकरणों में समन्वय आरम्भ हो गया । दोनों संस्कृतियों के साहित्य एवं शैलियाँ किसी न किसी रूप में एक दूसरे को प्रभावित करने लगीं । इस प्रकार मध्यकाल में भारत की सामाजिक संस्कृति का रूप अधिक निखरने लगा ।

मध्यकालीन संस्कृति का प्रभाव तथा आदान-प्रदान का स्वरूपः-

भक्तिकाल सांस्कृतिक दृष्टि से एक समन्वित संस्कृति के विकास का काल था । शुक्ल जी के अनुसार भक्ति कालीन साहित्य का मूल है- 'समन्वय की विराट चेष्टा' । समन्वय वह अवस्था है जिसमें विचारधाराओं एवं मान्यताओं का पारस्परिक भेद या विरोध समाप्त होकर एकरूपता उत्पन्न हो जाय अथवा किसी नयी विचारधारा का प्रवर्तन हो जाय । सार्थक समन्वय का आधार सैद्धान्तिक एवं तात्विक होता है । डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार समन्वय का तात्पर्य है कुछ झुकना, कुछ दूसरे को झुकने के

लिए बाह्य करना ।[1] किन्तु मानक हिन्दी कोश (सम्पादक रामचन्द्र वर्मा) में समन्वय शब्द के पाँच अर्थ बताये गये हैं -[2]

1. समान रूप से मिलना । इस प्रकार मिलना कि एक ईकाई बन जाय ।
2. परस्पर विरोध न होने की अवस्था का भाव ।
3. एक दूसरे में विलय करना ।
4. कार्य और कारण का सम्बन्ध ।
5. वह अवस्था जिसमें कथनों या बातों का पारस्परिक भेद या विरोध दूर करके उसमें एकता या एकरूपता लायी जाती है ।

उपर्युक्त व्याख्या अधिक मानक एवं वैज्ञानिक प्रतीत होती है। पारस्परिक विलय के द्वारा एकता की स्थिति ही समन्वय है । जहाँ अलगाव दिखता है, वहाँ समन्वय नहीं है । इस प्रकार से समन्वय को इस प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है - वह अवस्था जिसमें विचारधाराओं एवं मान्यताओं का पारस्परिक भेद या विरोध समाप्त होकर एकरूपता उत्पन्न हो जाय अथवा किसी नई विचारधारा का प्रवर्तन हो जाय, समन्वय की अवस्था कही जाती है ।

---

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका-डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ - 105
2. मानक हिन्दी कोश - सं0 रामचन्द्र वर्मा, पाँचवा खण्ड, प्रथम संस्करण, पृष्ठ - 280

जब-जब एक जाति का दूसरी जाति से संघर्ष या संयोग होता है, दोनों की संस्कृतियों में तब-तब समन्वय घटित होता है । इसका मुख्य कारण है कि किसी भी देश की संस्कृति हो, उसमें समन्वयशीलता किसी न किसी मात्रा में अवश्य होती है । एक विद्वान ने लिखा है - "संस्कृति कोई जड़ और अपरिवर्तनीय चीज नहीं, निरन्तर प्रवाह्मान एक प्रगतिशील प्रक्रिया है और इसे संकुचित राष्ट्रीयतावादी नजर से नहीं बल्कि व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भों में समझना चाहिए । किसी भी देश की संस्कृति अपने में पूर्णतया स्वतंत्र नहीं होती, वह तमाम राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक घटनाओं से प्रभावित और परिवर्तित होती रहती है और व्यापक मानव संस्कृति का एक अंग मात्र होती है ।[1]

सांस्कृतिक सम्बन्ध का तात्पर्य इन शब्दों में भी व्यक्त किया गया है : 'पारस्परिक संस्कृति ग्रहण' - जिसका अर्थ होता है कि सम्पर्क में आने वाली दोनों संस्कृतियाँ एक दूसरे से कुछ ग्रहण करती हैं लेकिन 'सांस्कृतिक समन्वय' में ग्रहण की स्थिति नहीं अभेद की स्थिति होती है। इस सम्बन्ध में समाजशास्त्र की एक पुस्तक में यह स्पष्टीकरण किया गया है कि संस्कृति एक विस्तृत और अकालबद्ध धारा है कोई पदार्थ नहीं जिसे किसी दूसरे पदार्थ में मिलाया जा सके । इस प्रकार यह अभेद कहीं 'नीरक्षीर'

---

1. मुक्तधारा, 8 दिसम्बर 1973 में प्रकाशित लेख - भारत-सोवियत सांस्कृतिक सम्बन्ध, पृष्ठ - 15

समन्वय के होते हुए 'तंदुल-सर्षप' समन्वय भी अवश्य होता है । बिना ग्रहण के समन्वय की कल्पना नहीं की जा सकती । इस प्रकार 'आदान-प्रदान' समन्वय भी सांस्कृतिक समन्वय का एक रूप है ।[1]

समन्वय का श्रोत प्रायः प्रत्येक देश और जाति की संस्कृति में होता है परन्तु भारतीय संस्कृति में यह गुण तीव्रतर दिखाई पड़ता है । भारत ने अपनी सुदृढ़ सांस्कृतिक परम्परा का प्रभाव गांधार, ईरान, मध्य एशिया, चीन, कोरिया तथा सुदूर पूर्व के विभिन्न देशों पर डाला तथा नीग्रो, द्रविड़, आर्य, यूनानी, यूची, शक, हूण, मंगोल, सीथियंस आदि जातियों की संस्कृतियों को इस देश ने अपनी संस्कृति में समाहित कर लिया ।

यहाँ कितने ही विदेशी आये । फारस के सामरस एवं देरियस, असीरियों की सेमिरामिस, सीरियनों का एंटीओकस, यूनानियों के सिकन्दर और सेल्यूकस, कुषाणों के कडफिसस, शको का नहपान, हूणों के तोरमाण और मिहिरकुल ...... श्रीलंका का पराक्रम बाहु और तिब्बत का स्त्रोंग-त्सांग-मांयो......अरबों का इब्न कासिम, गजनी का महमूद, मामलुक ऐबक, खिलजी अलाउद्दीन, मोहम्मद तुगलक, समरकन्द का तैमूर, फरगान का बाबर, तुर्क, तातार मंगोल, ईरान का नादिरशाह और अफगानों का अब्दाली....

---

1. भारतीय सामाजिक संस्थायें - डा0 के0के0 मिश्र, पृष्ठ - 27।

इत्यादि अनगिनत जातियाँ यहाँ आयीं और बहुत दूर तक भारतीय बनती गयीं । श्री चन्द्रकान्त बक्षी के शब्दों में शायद हजारों वर्षों की इस रसायनशाला की उपज को ही हमने भारतीयता का नाम दिया ।[1]

ऐतिहासिक दृष्टि से उपर्युक्त प्रक्रिया में हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक समन्वय भी समाहित है, किन्तु उसका सांस्कृतिक पक्ष ऐतिहासिक पक्ष से अधिक प्रबल दिखाई देता है । मध्यकाल से यदि मुस्लिम संस्कृति के योग को निकाल दिया जाय तो भारतीय संस्कृति का एक विशेष अंग क्षत हो जायेगा और उसके विकास प्रक्रिया की व्याख्या दुष्कर हो जायेगी ।

मुस्लिम संस्कृति के सम्बन्ध में एक मुस्लिम विचारक का यह मत असंगत है कि उसकी प्रवृत्ति आदिकाल से ही उदारता के साथ समन्वयात्मक रही है, और इस्लाम के प्रकाश में देशकाल के अनुसार उसके स्वरूप का विकास एवं विस्तार होता रहा ।[2] वस्तुतः इस्लाम एक कट्टर धर्म के रूप में प्रकट हुआ और मुस्लिम संस्कृति में वह कट्टरता विद्यमान रही।

---

1. धर्मयुग, 26 जनवरी 1975 में प्रकाशित लेख - भारतीयता, ऐतिहासिक पहचान, पृष्ठ - 7
2. भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य पर मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव, डा0 असद अली, पृष्ठ - 14
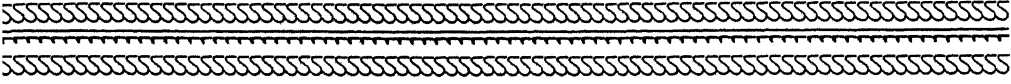
तृतीय अध्याय

भक्ति साहित्य का परिचय
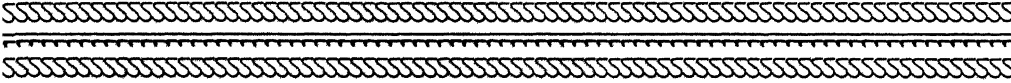
भक्ति साहित्य का परिचय

हिन्दी कविता का वैविध्य कई दृष्टियों से भक्त कवियों के कृतित्व से बनता है । हिन्दी में भक्ति साहित्य के मूल्यांकन से व्यावहारिक समीक्षा की शुरुआत आधुनिक कालीन गद्य के विकास के साथ होती है । गद्य के विकास से भक्ति साहित्य के मूल्यांकन की जो परम्परा चली, वह आज तक निरन्तर विकासशील है और भक्ति साहित्य की नवीनता को उद्घाटित करने के लिए प्रयत्नशील । प्रगतिशील आलोचकों से लेकर प्रतिक्रियावादी आलोचकों तक ने भक्ति साहित्य के सामाजिक रचनात्मक अवदान तथा उसकी क्रान्तिकारी भूमिका को एक स्वर से स्वीकारा है, भले ही दोनों के महत्व स्वीकार के आधार अलग-अलग रहे है । भक्ति साहित्य आज भी आलोचकों एवं पाठकों के लिए एक चुनौती है । प्रत्येक समर्थ आलोचक ने भक्ति साहित्य की रचनाधर्मिता से गुजरते हुए उसकी अर्थ-प्रक्रिया को अपनी-अपनी दृष्टि से विश्लेषित करने का प्रयत्न किया है । इस दृष्टि से भक्ति साहित्य आज भी हर आधुनिक समीक्षक एवं रचनाकार के लिए परीक्षा स्थल है ।

भक्ति आन्दोलन एवं साहित्य पर वस्तुपरक दृष्टि से पहला व्यवस्थित विचार-विमर्श आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में किया । शुक्ल की आलोचना और इतिहास दृष्टि के निर्माण में भक्तिकाल के साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका है । यही उनकी आलोचना एवं उनके इतिहास का केन्द्रीय विषय है । भक्ति आन्दोलन भारतीय संस्कृति

एवं साहित्य के इतिहास में जनसंस्कृति के उत्थान और उसकी रचनात्मक अभिव्यक्ति का आन्दोलन है । यह एक प्रकार से जन-संस्कृति के नवजागरण का आन्दोलन है, जिसमें जनभाषा में जनजीवन से जुड़े कवियों द्वारा जनभावना की अभिव्यक्ति हुई है ।[1]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति साहित्य के मूल्यांकन में साहित्य की श्रेष्ठता का आधार रचनाकार की मूल्यदृष्टि के आधार पर निरूपित करने की प्रक्रिया की शुरुआत की, और भक्त कवियों में से गोस्वामी तुलसीदास को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि स्वीकारा । शास्त्रीय एवं गुणदोष विवेचन वाली आलोचना पद्धति तथा केवल रचनाकार को महत्व देने वाली समीक्षा पद्धति से आगे बढ़कर आचार्य शुक्ल ने रचना को ही मूल्यांकन का केन्द्र बिन्दु बनाया । शुक्ल ने भक्त कवियों की विशेषताओं और उनकी अन्तः प्रवृत्ति का विश्लेषण करते हुए भक्ति साहित्य का आधुनिक सन्दर्भ में विवेचन किया ।

भक्ति साहित्य के मूल्यांकन में आचार्य शुक्ल ने कहीं साहित्येतर प्रतिमान स्वीकार नहीं किये । तुलसीदास उनके प्रिय एवं आदर्श कवि थे। तुलसी के रचना संसार में से ही उन्होंने अपनी आलोचना प्रक्रिया का निर्माण

---

1. साहित्य और इतिहास दृष्टि : मैनेजर पाण्डेय, पृष्ठ - 92 "पीपुल्स लिटरेसी"

किया । आचार्य शुक्ल ने साहित्य को दो भागों में विभाजित करके देखा- साधनावस्था का साहित्य एवं सिद्धावस्था का साहित्य । साधनावस्था का साहित्य ही उनकी दृष्टि में लोकमंगलवादी है, भक्ति साहित्य जिस कसौटी पर खरा उतरता है । शुक्ल ने कविता का कार्य मनुष्य के हृदय को स्वार्थ मुक्त करना माना है और कविता उनके लिए ज्ञान एवं कर्मयोग के समकक्ष भाव योग है । शुक्ल ने भाव को काव्य का प्रमुख आधार स्वीकारते हुए प्रतिपादित किया कि भाव का आधार यह गोचर जगत् है । कविता में विभाव पक्ष को प्रमुख मानते हैं एवं साहित्य प्रयोजन में लोकमंगल को । इस दृष्टि से हिन्दी का भक्ति साहित्य उन्हें सर्वश्रेष्ठ परिलक्षित होता है, और उसके भीतर से उनके व्यावहारिक समीक्षा प्रतिमान उपजते हैं ।

आचार्य शुक्ल की भक्तिकाल सम्बन्धी समीक्षाओं को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है । पहले भाग में प्रधानतः उनका 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' आता है, और द्वितीय भाग में प्रधानतः तुलसी, सूर, जायसी की समीक्षायें । सूर, तुलसी, जायसी आदि भक्ति युगीन प्रमुख कवियों का सांगोपांग विवेचन कर उन्होंने मानवतावादी उदात्त भक्ति साहित्य की स्थापना की । रचनाओं में प्रबन्धकीय क्षमता को महत्व देते हुए आचार्य शुक्ल ने रस, अलंकार आदि को मात्र वाह्य सज्जा के रूप में ही नहीं बल्कि भावना की अपेक्षा को आधार बनाया । शुक्ल ने तुलसी एवं जायसी के श्रेष्ठ काव्य सौन्दर्य का उद्घाटन करते हुए रस और अलंकार का गूढ़ विन्यास

कर रस पद्धति को अपूर्व गौरव प्रदान किया । सूर काव्य की समीक्षा में मुक्तक की तुलना में प्रबन्ध काव्य की महत्ता स्थापित की, फिर भी सूर की मनोवैज्ञानिक सूझबूझ, उनकी भावुकता, सहृदयता को काव्य की श्रेष्ठता मानकर बार-बार सराहा । शुक्ल ने उस समय तक गुमनाम समझे जाने वाले जायसी को अपनी आलोचना द्वारा ऊपर उठाकर एकाएक तुलसी एवं सूर के समकक्ष कर दिया । वे हमेशा लोकानुभूति को महत्व देते हुए लोक समन्वय, लोकमंगल की भावना का आदर करते रहे । तुलसी साहित्य उनकी आलोचना का आदर्श था । शुक्ल के अनुसार जो साहित्य उनकी कसौटी पर खरा नहीं उतरा, उन्होंने अत्यन्त निर्मम भाव से उनकी कटु आलोचना की । निश्चित रूप से इसी कारण उनसे अनेक स्थानों पर अन्याय भी हुआ। कबीर जैसी प्रतिभा आचार्य शुक्ल की मेधा के स्पर्श से वंचित ही रह गयी।

आचार्य शुक्ल का भक्ति साहित्य सम्बन्धी विश्लेषण उन्नीसवीं शताब्दी के पुर्नजागरण की सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना से सम्पृक्त है। आचार्य शुक्ल की आलोचना दृष्टि के मूल में रस तथा लोकमंगल एवं भक्ति काव्य विशेषतः तुलसीदास की रचना प्रक्रिया का महत्वपूर्ण योग है । उन्होंने कबीर, जायसी, सूर, तुलसी जैसे भक्त कवियों का सम्बन्ध जनसंस्कृति से स्थापित करके भक्त कवियों को रचना धर्मिता के समाजोन्मुखी रूप की पक्षधरता की तथा अपनी सांस्कृतिक विरासत का मूल्यांकन करके उसके प्रगतिशील तत्वों को रेखांकित किया । भक्त कवियों के कृतित्व का विश्लेषण करते

हुए आचार्य शुक्ल ने उन्हें उनके सामाजिक संदर्भ से अलग करके नहीं देखा ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना दृष्टि लोकमंगलवादी है। उनका भक्ति आन्दोलन एवं भक्ति साहित्य का सम्पूर्ण विश्लेषण लोकपक्ष पर केन्द्रित है । भक्ति साहित्य के सगुण एवं निर्गुण दोनों धाराओं के कवियों का मूल्यांकन उन्होंने किया, किन्तु सगुण काव्यधारा की विशेष महत्व प्रदान किया । वस्तुवादी और लोकवादी रूपों की पक्षधरता करने वाली शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि ने कविता में रहस्य और गुह्य साधना का विरोध किया । नाथों, सिद्धों की परम्परा वाले निर्गुण संत कवियों की अपेक्षा उन्होंने सगुण भक्त कवियों को विशेष महत्व प्रदान किया । सगुण भक्त कवियों में भी सूरदास की अपेक्षा तुलसीदास जी अधिक प्रिय लगते हैं । भक्त कवियों में शुक्ल जी की लोकवादी आलोचकीय दृष्टि के प्रतिनिधि कवि तुलसीदास हैं । इसीलिए उनकी आलोचना - प्रक्रिया के मूल में तुलसीदास ही स्थित हैं ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना दृष्टि भक्ति साहित्य के विश्लेषण में लोकवादी और यथार्थवादी पक्षों पर केन्द्रित है । वे हिन्दी साहित्य के पहले ऐसे आलोचक हैं, जिन्होंने व्यवस्थित ढंग से भक्त कवियों विशेषतः कबीर, जायसी, सूर एवं तुलसी का साहित्यिक मूल्यांकन किया।

उनका भक्ति साहित्य का विश्लेषण इतना मूल्यवान है कि भक्तिकाव्य के परवर्ती आलोचकों को उनसे बार-बार टकराना पड़ता है ।

आचार्य शुक्ल के बाद हिन्दी साहित्य के महत्वपूर्ण इतिहासकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी हैं । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के इतिहास लेखन का प्रयास परम्परा के पुर्नमूल्यांकन और नये विकास की सम्भावनाओं की ओर संकेत करने के कारण ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की दिशा में एक सार्थक एवं नया प्रयास माना जाता है । आचार्य द्विवेदी ने साहित्येतिहास से सम्बन्धित साहित्य, संस्कृति, परम्परा, इतिहास, मनुष्य, भाषा और साहित्य के इतिहास के मूल तत्वों पर गम्भीरता से स्वतंत्र चिन्तन किया ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का भक्ति साहित्य सम्बन्धी मूल्यांकन प्रायः शुक्ल जी के बहुत निकट है । आचार्य शुक्ल की ही तरह उन्होंने भी भक्ति साहित्य का मूल 'लोकादर्श' स्वीकार किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल साहित्य में लोकमंगल की साधना को विशेष महत्व देते हैं तो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के लिए भी साहित्य सामाजिक मंगल का विधायक है । द्विवेदी जी ने साहित्य की सामाजिक सत्ता और प्रयोजनीयता की ओर संकेत किया है । आचार्य द्विवेदी वाह्य जगत् से आँखे मूँदकर आन्तरिक सौन्दर्य की उपासना करने के बदले रचनाकारों को समाज एवं जीवन के

साक्षात्कार की सलाह देते हैं । उन्होंने लिखा है - "साहित्य के उपासक अपने पैर के नीचे की मिट्टी की उपेक्षा नहीं कर सकते । हम सारे वाह्य जगत को असुन्दर छोड़कर सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते । वाह्य सुन्दरता के 'ढूह' में खड़े होकर आंतरिक सौन्दर्य की उपासना नहीं हो सकती है। निरन्न निर्वसन जनता के बीच खड़े होकर आप परियों के सौन्दर्यलोक की कल्पना नहीं कर सकते ।"[1] द्विवेदी जी लिखते हैं - "यह सत्य है कि वह (साहित्य) व्यक्ति विशेष की प्रतिभा से ही रचित होता है किन्तु और भी अधिक सच यह है कि प्रतिभा सामाजिक प्रगति की ही उपज है ।"[2]

द्विवेदी जी की स्पष्ट राय है कि "प्रतिभा पूर्ण रूप से वैयक्तिक नहीं है । समाज की सामूहिक पहुँच को ही व्यक्ति विशेष की प्रतिभा सूचित करती है ।"[3]

भक्ति साहित्य के मूल्यांकन को लेकर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने पूर्ववर्ती आलोचकों से इस प्रसंग में अलग थे कि उन्होंने भक्ति साहित्य को न केवल युगीन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया के रूप में देखा

---

1. अशोक के फूल - हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ - 184-85
2. विचार और वितर्क - हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ - 278
3. विचार और वितर्क - हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ - 273

और न ही रचनाकार की मानसिक संवेदना की अभिव्यक्ति के रूप में । उन्होंने भक्ति साहित्य को सांस्कृतिक - सामाजिक परम्पराओं के विशाल प्रवाह के रूप में देखने का आग्रह किया । उनकी इस आलोचना दृष्टि के निर्माण में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओं एवं बौद्ध, नाथ, जैन, सिद्ध, संत आदि परम्पराओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है । इसी दृष्टि के परिणाम स्वरूप वे भक्ति काव्य को नाथों एवं सिद्धों से चली आ रही परम्परा के विकास रूप में देखने पर ज्यादा बल देते हैं । द्विवेदी जी ने भक्ति साहित्य का स्वरूप बताते हुए तीन बातों को महत्व दिया । पहला यह कि भक्ति साहित्य भारतीय चिंतन धारा का स्वाभाविक विकास है । दूसरा यह कि बौद्ध चिन्तन प्रक्रिया का संक्रमित होकर निर्गुण तथा सगुण दोनों भक्ति धाराओं में लोकधर्मी विकास एवं तीसरा, प्राकृत अपभ्रंश की देशी काव्य धारा में श्रृंगारिकता के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि भक्त कवियों का रचना संसार किसी 'प्रतिक्रिया' की उपज नहीं हो सकता । अपने इसी नैसर्गिक विश्वास के तहत् उन्होंने भक्ति आन्दोलन तथा भक्ति साहित्य की पहचान हिन्दी चिन्तनधारा की सहज लोक परम्परा के आधार पर की । इसी लोक आधार के साथ उन्होंने अपने देश की साधना पद्धतियों, धर्मों, मतों तथा चिन्तनधाराओं में भक्ति साहित्य का मूल श्रोत खोजा । भक्ति साहित्य की अपनी स्वाभविक विकास की स्थिति पर ध्यान केन्द्रित करते हुए उन्होंने

कबीर आदि निर्गुण संत कवियों की रचनाधर्मिता के श्रोत को अभारतीय अथवा लोकविरोधी मानने का विरोध किया । प्राचीन शास्त्रों के अनेक उद्धरणों का हवाला देकर उन्होंने कबीर आदि निर्गुण संतों के विषय में लिखा है- "यदि कबीर आदि निर्गुणवादी संतों की वाणियों की बाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि यह सम्पूर्णतः भारतीय है और बौद्ध धर्म के अन्तिम सिद्धों एवं नाथपंथी योगियों के पदादि से उसका सीधा सम्बन्ध है ।"[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिन सिद्धों एवं संतों की रचना को लोक विरोधी समझा था, उनके कृतित्व का विश्लेषण करके द्विवेदी जी ने उसे लोकोन्मुखी सिद्ध किया और हिन्दी साहित्य की परम्परा में उनको मूल्यांकित किया । भक्ति साहित्य के विश्लेषण में आचार्य द्विवेदी की दृष्टि शुक्ल जी की दृष्टि से आगे बढ़कर परम्परा तथा आधुनिक रचनाशीलता के बीच नये एवं मजबूत सेतुओं का निर्माण करती है । आचार्य शुक्ल की तुलना में आचार्य द्विवेदी में सामाजिक सांस्कृतिक तथा धार्मिक पक्ष का बोध अधिक सबल है । यही सबल भूमि आचार्य द्विवेदी की 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' की प्राणशक्ति है - जो भक्ति साहित्य की निरन्तरता और ऐतिहासिकता के द्वन्द्वात्मक कोण से स्पष्टतया पहचान करा सकी है ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भक्ति साहित्य को भारतीय जनता

---

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ-40

की चिन्ता का स्वाभाविक विकास, भारतीय साहित्य की परम्परा का विकसित रूप और अपने समय के समाज और व्यापक जनसमुदाय की भावनाओं की अभिव्यक्ति सिद्ध किया है । द्विवेदी जी ने भक्तिकाल के साहित्य पर इस्लाम के प्रभाव को तो स्वीकार किया किन्तु उसे इस्लाम की प्रतिक्रिया में लिखा गया साहित्य मानने की धारणा का खण्डन किया है ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की समीक्षा दृष्टि के मूल में उन्नीसवीं शती का पुनर्जागरण, संत कवि कबीर की रचना प्रक्रिया एवं प्रगतिशील आन्दोलन का प्रभाव देखा जा सकता है । भक्तिकाल को व्यापक मानवतावादी धरातल और एक गम्भीर सांस्कृतिक निष्ठा की दृष्टि से मूल्यांकित करने के पीछे आचार्य द्विवेदी की आलोचनात्मक संवेदना राष्ट्रीय नवजागरण एवं प्रगतिशील आन्दोलन की विशेषताओं को आत्मसात् किये हुए है । इसी विवेक के आधार पर उन्होंने भक्ति साहित्य को जन-आन्दोलन की अभिव्यक्ति का साहित्य माना । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भक्ति काव्य को लोक भाषा का साहित्य और सामंती चेतना का विरोधी साहित्य मानते हैं । द्विवेदी जी ने लिखा है - "प्रथमतः तो यह जन आन्दोलन की अभिव्यक्ति का साहित्य है, इसलिए उसमें उन रूढ़ियों एवं परम्पराओं की चर्चा नहीं मिलती जो शास्त्रीयता से पुष्ट साहित्य में साधारणतः मिल जाया करती है । दूसरे, जिस प्राचीन साहित्य के साथ इनकी तुलना की जाती है, उसके बनने से लेकर इस साहित्य के बनने के काल के बीच जो प्रायः आधी सहस्त्रावधि

का व्यवधान पड़ता है, उस व्यवधान युग के विचारों के विकास के अध्ययन की चेष्टा नहीं की जाती । यदि इस व्यवधान कालिक साहित्य के उस अंश को देखें जिसका सम्बन्ध पंडित जनों से नहीं बल्कि जनसाधारण से था, तो कोई संदेह नहीं रह जायेगा कि यह साहित्य इस व्यवधानकालिक जनसाहित्य का ही क्रम विकास है ।"[1]

भक्ति काल के मूल्यांकन में आचार्य द्विवेदी के गहन साहित्य बोध, मौलिक चिंतन एवं विस्तृत अध्ययन का परिचय मिलता है । भक्ति साहित्य के दो पक्षों को उन्होंने विशेष रूप से समृद्ध किया - पहला हिन्दी चिंतनधारा की सहज लोक परम्परा और दूसरा उसी परम्परा से सम्पृक्त कबीर का कवित्व । द्विवेदी जी के मूलयांकन विशेषतः, 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' एवं 'कबीर' ने इस निर्गुण संत कवि को भक्ति साहित्य की विशिष्ट पृष्ठभूमि और उनके सहज महत्व में प्रतिष्ठित किया ।

भक्ति साहित्य के विश्लेषण में मार्क्सवादी आलोचक डा० रामविलास शर्मा का महत्वपूर्ण योगदान है । उनका भक्ति साहित्य सम्बन्धी विश्लेषण रोचक एवं महत्वपूर्ण है । डा० रामविलास शर्मा का भक्ति साहित्य सम्बन्धी मूल्यांकन एक ओर आचार्य शुक्ल के निकट है तो दूसरी ओर मार्क्सवादी

---

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका - हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ-48

सौन्दर्यशास्त्र से प्रतिबद्ध होने के कारण उनसे स्वतंत्र भी है । डा0 रामविलास शर्मा ने भक्ति साहित्य के उदय के कई कारणों में इस्लाम की प्रतिक्रिया को भी एक कारण माना है । उनका मत है कि भक्ति आन्दोलन के लिए जिम्मेदार अन्य कारणों में उस समय की सामाजिक व्यवस्था थी । भक्ति आन्दोलन का सामाजिक आधार जुलाहों, कारीगरों, किसानों और व्यापारियों का भौतिक जीवन है । भक्ति साहित्य का, भारतीय जीवन की जिस परिस्थिति से घनिष्ठ रिश्ता है, वह है सामन्ती जीवन का ह्रास, सामन्ती ढाँचे का कमजोर पड़ना । डा0 रामविलास शर्मा के अनुसार - "आधुनिक शब्दावली में कहें तो कह सकते हैं कि भक्ति आन्दोलन मध्यकालीन समाज व्यवस्था में जनता का सामन्त विरोधी आन्दोलन था ।"[1]

भक्ति आन्दोलन के सामाजिक आधार को स्पष्ट करते हुए शर्मा ने प्रतिपादित किया कि भक्ति आन्दोलन अखिल भारतीय सांस्कृतिक आन्दोलन था तथा उससे जो भावात्मक एकता स्थापित हुई, उसमें जितना फैलाव था उतनी गहराई भी । डा0 शर्मा ने स्पष्ट किया कि भक्ति आन्दोलन देशज आन्दोलन है । वह सामंती समाज की परिस्थितियों से उत्पन्न सामंती समाज से विद्रोह का साहित्य है ।

---

1. परम्परा का मूल्यांकन - डा0 रामविलास शर्मा, पृष्ठ - 68

डा0 रामविलास शर्मा ने भक्ति आन्दोलन के व्यापक परिप्रेक्ष्य में भक्त कवियो के रचनाओं को विश्लेषित करते हुए सामाजिक समस्याओं के प्रति उनकी जागरुकता तथा मध्यकालीन भारत के सांस्कृतिक परिवेश में उनकी प्रगतिशीलता रेखांकित की है । उनके अनुसार भक्ति साहित्य का सामाजिक महत्व यह है कि उसमें देश की करोड़ो जनता की व्यथा, प्रतिरोध भावना और सुखी जीवन की आकांक्षा व्यक्त हुई है । डा0 शर्मा ने भक्ति साहित्य के ज्ञान मार्गी, प्रेममार्गी, भक्तिमार्गी अथवा संत कवि, भक्त कवि जैसे स्थूल विभाजनों को मान्यता नहीं दी । उन्होंने भक्ति साहित्य को राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में देखने की पक्षधरता की है । वे कबीर, जायसी, सूर, तुलसी हिन्दी की अपेक्षा भारतवर्ष का अमर कवि स्वीकारते हैं । डा0 शर्मा का मत है कि देश और काल की दृष्टि से भक्ति आन्दोलन व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन है और इसी आन्दोलन के फलस्वरूप कबीर, सूर, तुलसी जैसे महाकवियों का उदय हुआ । कबीर को उन्होंने मध्ययुग से फूटने वाली नई सामाजिक चेतना का कवि माना है, तो जायसी को सौन्दर्य एवं प्रेम का। सूरदास को सामन्त विरोधी मानवीय प्रेम का कवि कहा है, तो तुलसी को सामंती जनक्रान्ति और जातीय जनजागरण का सर्वश्रेष्ठ कवि माना है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भाँति डा0 राम विलास शर्मा भी भक्तिकाल के कवियों में तुलसीदास को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं ।

डा0 रामविलास शर्मा ने भाषिक संवेदना की दृष्टि से भक्ति

ाहित्य को 'प्रान्तीय जागरण के साहित्य' की संज्ञा दी । उन्होंने स्पष्ट केया कि अपभ्रंश साहित्य की रुढ़ियाँ 'वीरगाथा काल' एवं 'रीतिकाल' में ुनर्जीवित हुई हैं और भक्ति साहित्य में उसका निषेध है । डा0 शर्मा के अनुसार अपभ्रंश साहित्य की मूल प्रकृति सामन्तवादी थी, और भक्ति साहित्य की मूल प्रकृति सामंत विरोधी । भक्ति साहित्य के कवियों ने अपभ्रंश के दबाव से लोक भाषाओं को मुक्त किया और सामंती विचारधारा के साहित्य को मुक्त करने की कोशिश की ।

भक्ति साहित्य के महत्वपूर्ण आलोचकों में मुक्तिबोध का विश्लेषण भी उल्लेखनीय है । मुक्तिबोध ने "मध्य युगीन भक्ति आन्दोलन एक पहलू" शीर्षक लेख में भक्ति आन्दोलन एवं भक्ति साहित्य की समाजशास्त्रीय व्याख्या की । मुक्ति बोध का मानना है कि भक्ति आन्दोलन जन साधारण द्वारा प्रेरित और संचालित था । इस आन्दोलन द्वारा पीड़ित और संत्रस्त जनता ने अपना विद्रोही एवं क्रान्तिकारी स्वरूप स्पष्ट किया ।

मुक्तिबोध ने समूचे भक्ति आन्दोलन का विश्लेषण करते हुए तीन संदर्भों को रेखांकित किया । पहला यह कि मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन के राजनैतिक गर्भितार्थ थे । ये राजनैतिक गर्भितार्थ तत्कालीन सामन्ती व्यवस्था और उसके पक्ष पोषकों के विरुद्ध थे । भक्ति आन्दोलन उच्च वर्गों के खिलाफ निम्न वर्गों का विद्रोह था । दूसरा यह कि भक्ति आन्दोलन में

ऊँच-नीच दोनों प्रकार के संतों और भक्तों का योग रहा, किन्तु सामाजिक भेदभाव तथा मानवीय एकता और समानता को लेकर निम्न कहे जाने वाले संत कवियों की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण है । तीसरा यह कि भक्ति आन्दोलन के प्रारम्भिक चरण में निम्नवर्गीय तत्व सर्वाधिक सूक्ष्म और प्रभावशाली थे, किन्तु कालान्तर में उच्चवर्गीय भक्त कवियों ने इस धारा के जनवादी स्वर को दबाकर उसे पुरातन पंथी पौराणिक मतवाद के भीतर समाहित कर लिया। यह कार्य आंशिक तौर से कृष्ण भक्त कवियों और समग्रतः राम भक्त कवि तुलसीदास द्वारा पूरा किया गया ।

मुक्तिबोध ने भक्ति साहित्य का विश्लेषण करते समय उसकी समकालीन प्रासंगिकता पर भी विचार किया । वे भक्ति साहित्य के मूल्यांकन में अतीत के प्रति रक्षात्मक, वर्तमान के प्रति आक्रामक और भविष्य के प्रति संदेह की भावना से संचालित आलोचना - प्रक्रिया के विरुद्ध हैं । उनके अनुसार भक्ति साहित्य आज भी इसीलिए मूल्यवान है कि उसमें सन्निहित जीवन मूल्य समकालीन समाज और जीवन के विकास में उपयोगी हैं । इसी सम्बन्ध में मुक्तिबोध नें रेखांकित किया कि जिन साहित्यिक कृतियों में जीवन मूल्य प्रतिक्रियावादी हों, लेकिन कलात्मक सौन्दर्य अत्यन्त आकर्षक, वहाँ साहित्यिक मूल्यांकन में जागरुक रहने की आवश्यकता है । मुक्ति-बोध ने कलात्मक सौन्दर्य की इस तनावपूर्ण स्थिति का उल्लेख "रामचरित-मानस" के परिप्रेक्ष्य में भी किया है ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं मुक्तिबोध की भक्ति साहित्य सम्बन्धी स्थापनाओं का महत्वपूर्ण विकास डा० नामवर सिंह के भक्ति साहित्य सम्बन्धी मूल्यांकन में देखा जा सकता है । नामवर सिंह ने 'दूसरी परम्परा की खोज' में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक मूल्यांकन के बहाने मध्यकालीन भारतीय संस्कृति और भक्ति साहित्य की लोकोन्मुखी क्रान्तिकारी परम्परा को खोजने का प्रयास किया है । लोक और शास्त्र के द्वन्द्व का जो सूत्र द्विवेदी जी ने कविवर रवीन्द्र नाथ टैगोर से प्राप्त किया था, उसी के आलोक में नामवर जी ने द्विवेदी के समूचे भक्ति कालीन विश्लेषण को देखा है ।

भक्ति साहित्य के मूल्यांकन में नामवर सिंह ने स्पष्ट किया कि हजारी प्रसाद द्विवेदी के प्रगतिशीलता क्रान्ति और विरोध के साथ प्रेम की नई स्वीकृति में समाहित है । उन्होंने द्विवेदी जी के सर्वप्रथम प्रकाशित लेख 'वैष्णव कवियों की रूपोपासना' और पहली समीक्षा पुस्तक 'सूर साहित्य' का विश्लेषण करते हुए उनकी प्रेम संवेदना और प्रेम सम्बन्धों के प्रति उनकी आधुनिक दृष्टि की व्याख्या की । सूरदास जैसे भक्त कवियों का कृतित्व सामन्ती दमन के विरुद्ध मानवीय विद्रोह था । 'सूर साहित्य' का संदर्भ देते हुए नामवर सिंह ने प्रतिपादित किया कि वैष्णव भक्ति में परकीया प्रेम को जो इतना ऊँचा स्थान दिया गया है, वह एक तरह से तांत्रिक साधना

का परिमार्जित रूप है । कबीर के प्रति आकर्षण की प्रेरणा भी रवीन्द्रनाथ, लेकिन सच यह है कि द्विवेदी जी अपने स्वयं के संघर्ष के अनुभवों के आधार पर एक तरह के क्रान्तिकारी विद्रोही कबीर की परिकल्पना कर सके । नामवर सिंह ने लिखा है - "कबीर के माध्यम से जाति धर्म निरपेक्ष मानव की प्रतिष्ठा का श्रेय तो द्विवेदी जी को ही है । एक प्रकार से यह दूसरी परम्परा है ।"[1] डा० नामवर सिंह ने लिखा है- "प्राण शक्ति के रूप में काम भावना का निरूपण करके द्विवेदी जी यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यह मनुष्य की आंतरिक उर्जा है, जो इसके विकास का बीज है ।"[2]

निर्गुण एवं सगुण साहित्य का परिचय: प्रमुख धारायें:-

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पूरे भक्तिकाल को चार भागों में विभाजित कर उसे शुद्ध दार्शनिक एवं धार्मिक आधार पर प्रतिष्ठित किया । उन्होंने इस काल के समस्त साहित्य को पहले निर्गुण धारा और सगुण धारा में और पुनः प्रत्येक को दो-दो शाखाओं ज्ञानाश्रयी शाखा व प्रेमाश्रयी शाखा तथा राम भक्ति शाखा व कृष्ण भक्ति शाखा में विभक्त करके न केवल साहित्यिक आलोचकों के लिए अपितु दार्शनिक तथा धार्मिक दृष्टि से साहित्यानुसंधान

---

1. दूसरी परम्परा की खोज-नामवर सिंह, पृष्ठ-13, राजकमल प्रकाश दिल्ली।
2. वही, पृष्ठ - 63

करने वालों के लिए एक सरल एवं सीधा मार्ग प्रशस्त किया ।

आचार्य शक्ल ने हिन्दी साहित्य का काल का विभाजन दो आधारों पर किया है -

1. काल क्रम के आधार पर ।
2. साहित्यिक प्रवृत्यिों की प्रधानता के आधार पर ।

काल क्रम के अनुसार हिन्दी साहित्य के इतिहास को आदिकाल, पूर्व मध्यकाल, उत्तर मध्यकाल तथा आधुनिक काल में बाँटा है और साहित्यिक प्रधानता के आधार पर वीरगाथा काल, भक्ति काल, रीति काल और गद्यकाल में बाँटा है । साहित्यिक प्रवृत्यिों के आधार पर किया गया काल विभाजन ही विशेष महत्वपूर्ण एवं लोकप्रिय है । साहित्यिक प्रवृत्यिों को प्रधानता के अनुसार ही इन कालों का नामकरण भी हुआ है । किसी साहित्यिक प्रवृत्ति की प्रधानता का निर्णय कई आधारों पर होता है । पहली बात है, विशेष ढंग की एक रचनाओं की प्रचुरता । शुक्ल जी के अनुसार रचनाओं की श्रेष्ठता की कसौटी लोक रुचि है और उनके स्थायित्व का प्रमाण जनता में लोकप्रियता । यह आचार्य शुक्ल की लोकवादी इतिहास दृष्टि का एक प्रमाण है ।

भक्तिकाल के मूल्यांकन की प्रक्रिया में भी आचार्य शुक्ल ने अपनी

इसी इतिहास दृष्टि का परिचय देते हुए भक्तिकाल की विभिन्न धाराओं के अंतर्सम्बन्ध को रेखांकित किया है ।

1400 से 1700 ई0 तक लिखे गये हिन्दी साहित्य के चार (4) स्पष्ट स्वरूप हैं । संत साहित्य, सूफी साहित्य, राम भक्ति साहित्य एवं कृष्ण भक्ति साहित्य । काल क्रम की दृष्टि से संत साहित्य का प्रथम स्थान है ।

संत साहित्यः-

संत साहित्य की प्रारम्भिक रचनाओं के विषय में मतभेद है। 1400 ई0 के आस-पास कबीर का जन्म हुआ था और उनके साहित्य को ही संत साहित्य की प्रथम रचनायें माना जाय तो इस सम्बन्ध में सब विद्वान एकमत नहीं हैं । डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल संत साहित्य के आविर्भाव को बहुत पीछे ले जाकर जयदेव से इसका आविर्भाव मानते हैं[1] डा0 रामकुमार वर्मा ने नामदेव की रचनाओं से इस साहित्य का प्रारम्भ होना बताया है।[2] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर का नाम इस साहित्य के सम्बन्ध में सर्वप्रथम

---

1. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय-डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ0-95
2. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - डा0 रामकुमार वर्मा, पृष्ठ - 310

लिया है ।[1] अन्तर्साक्ष्य इस प्रकार के मतभेदों में विशेष सहायक होते हैं । कबीर का कथन 'सनक सनन्दन जैदेव नामा भगति करी मन उनहुँ न जाना'[2] से प्रकट होता है कि कबीर से पूर्व उनकी ही परम्परा में होने वाले 'जैदेव' और 'नामदेव' नाम के संत हो चुके थे । इसलिए कबीर साहित्य के पहले का लिखा हुआ जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन और रामानन्द का साहित्य संत साहित्य के अन्तर्गत माना जाता है । जयदेव का 'गीत गोविन्द' प्रसिद्ध है, किन्तु वह कहाँ तक संत साहित्य की परम्परा में है वह विवाद का विषय हो सकता है । जयदेव के कुछ ग्रन्थ - 'रसना राघव' और 'चन्द्रालोक' निश्चय ही संत साहित्य से संबंधित नहीं हैं । नामदेव का लिखा काव्य पृथक रूप से उपलब्ध नहीं है । उनकी लिखी कुछ कविता केवल 'आदिग्रन्थ' में संग्रहित है । त्रिलोचन के नाम से मिलने वाली कविता केवल आदिग्रन्थ में संग्रहित है ।

रामानन्द की रचना का संत साहित्य के आरम्भ में क्या महत्व है, यह विचार का विषय है । हिन्दी में रामानन्द की विशेष रचनायें नहीं मिलतीं । साम्प्रदायिक ग्रन्थ 'रामार्चन पद्धति' और 'वैष्णवमताब्ज भास्कर' मिलते हैं, किन्तु हिन्दी में उनके दो ही पद उपलब्ध होते हैं जो निवृत्ति

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - पं0 रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ-70
2. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ-99, पद संख्या-33

मार्ग और निराकारोपासना के पक्ष में हैं । रामानन्द के साहित्य को संत साहित्य के अन्तर्गत महत्व दिया जाता है, क्योंकि उनके सिद्धान्त, उनकी भक्ति पद्धति, जाति-पाँति का विरोध का सीधा प्रभाव संत साहित्य पर था। जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन एवं रामानन्द इन चारों संतों का हिन्दी साहित्य में नींव का ही स्थान है । परिमाण की दृष्टि से इन कवियों का साहित्यगत सहयोग न के बराबर है ।

सर्वप्रथम जो संत साहित्य मिलता है वह कबीर का है । उनकी रचनाओं को कुछ विद्वानों ने साहित्य के दृष्टिकोण से उच्च श्रेणी का नहीं माना, किन्तु कबीर की जो भी रचनायें हैं वे हिन्दी साहित्य का महत्वपूर्ण अंश हैं । यदि कबीर का काव्य हिन्दी साहित्य से निकाल दिया जाय तो निश्चय ही भक्ति साहित्य अधूरा दिखेगा ।

भक्ति काल की इस निर्गुण संत काव्य परम्परा में कबीर का प्रमुख स्थान है । कबीर उसके प्रवर्तक माने जाते हैं । अनेक लौकिक एवं अलौकिक बातों का समावेश हो जाने से कबीर के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता है । उनकी जन्मतिथि के सम्बन्ध में अनेक मत हैं । कबीर पंथियों में उनकी जन्मतिथि 1319 ई0 (संवत 1956) और मृत्यु तिथि 1518 ई0 मानी जाती है ।

कबीर के ग्रन्थ:-

कबीर साक्षर नहीं थे । उनकी कही जाने वाली रचनायें दूसरे लोगों द्वारा संग्रहीत हैं । यह बता पाना कठिन है कि कौन सी रचना उनकी अपनी है और कौन सी परवर्तीकाल के भक्तों का प्रक्षेप । उनकी रचनाओं का कोई संग्रह ऐसा नहीं मिला है जिसके बारे में निस्संदिग्ध होकर कहा जा सके कि यह उनके समय की रचना है ।

कबीर की रचनाओं का संग्रह 'गुरु ग्रन्थ साहब' (1605) में और नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित तथा डा0 श्याम सुन्दर दास द्वारा संपादित 'कबीर ग्रन्थावली' में है । तीसरा संग्रह कबीर पंथी सम्प्रदाय में समादृत 'बीजक' है । आदि ग्रन्थ के पद में सिखों के 'गुरु ग्रन्थ साहब' का संकलन किया गया है । इसमें कबीर की बहुत सी वाणियों का संकलन किया गया है । आदि ग्रन्थ से इन वाणियों को उद्धृत करके डा0 रामकुमार वर्मा ने इसे अलग से मुद्रित कराया है । इस संग्रह में ऐसे पद जरूर हैं जोसन् 1605 तक कबीर लिखित माने जाते हैं । संभवत: कबीर के पदों का सबसे पुराना संग्रह यही हे । 'ग्रन्थ साहब' में ही कभी-2 दूसरे संतों के नाम से भी वही पद मिल गये हैं जो कबीर के नाम से संग्रहित हैं । इससे संदेह होता है कि आदिग्रन्थ में संकलित पदों की प्रामाणिकता भी उतनी विश्वसनीय नहीं है । फिर भी प्राचीनता की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं ।

तीसरा संग्रह 'बीजक' है । यह कबीर पंथी सम्प्रदाय में सबसे अधिक मान्य ग्रन्थ है । प्रसिद्ध है कि कबीर ने स्वयं इस ग्रन्थ को अपने दो शिष्यों जगजीवन दास और भगवानदास को दिया था । वर्तमान बीजक अठारहवीं शताब्दी में धनौती मठ (छपरा जिला-बिहार) से प्रकाशित हुआ है । कबीर सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को समझने के लिए इसी ग्रन्थ को प्रमाण माना जाता रहा है । इस पर कई महत्वपूर्ण टीकायें लिखी गयी हैं। जिसमें पूरनदास की लिखी 'तिर्ज्या' टीका (1892 में प्रकाशित) और महाराज विश्वनाथ सिंह जू देव कृत 'पाखण्डखण्डनी' टीका (1904 में बम्बई से प्रकाशित) बहुत प्रसिद्ध है । बीजक की टीकाओं में यह सबसे अधिक पांडित्यपूर्ण है । कबीर की वाणी का संग्रह 'बीजक' अत्यधिक प्रसिद्ध है । जिसके तीन भाग हैं - साखी, सबद एवं रमैनी ।

कबीर की रचनाओं में 'साखी' अर्थात् 'दोहे' और 'पद' पर्याप्त पुराने हैं । 'साखी' शब्द का अर्थ है 'साक्षी' अर्थात् ये वाक्य गुरु के उपदेशों का प्रत्यक्ष रूप है । बौद्ध सिद्ध 'कण्हवा' ने 'साखि करब जालंधर पाएँ' वाले पद में गुरु को साक्षी बनाने की बात कही है । आगे चलकर गुरु के उपदेशों को ही गुरु की 'साखी' समझा जाने लगा । 'गुरु ग्रन्थ साहब' में कबीर की साखियों को 'सलोकु' या 'श्लोक' कहा गया है । 'बीजक' में संग्रहीत साखियों का कोई विभाग नहीं है किन्तु कबीर ग्रन्थावली में इन साखियों को 'अंगों' में विभाजित किया गया है जैसे 'गुरु को अंग', 'निहकरमी-

पतिव्रता को अंग' इत्यादि अनुमान किया जाता है कि आगे चलकर साखियों को गुरु का अंग ही मान लिया गया ।

'सबद' या 'शब्द' वस्तुतः गेय पद हैं । इनकी परम्परा बहुत पुरानी है । बौद्ध एवं नाथ सिद्धों ने ध्रुवक देकर विभिन्न रागों में पद लिखे थे । कबीरदास के पद उसी परम्परा के हैं । 'बीजक' में जो पद संग्रहीत हैं उनमें खण्डन मण्डन की और ज्ञान की कथनी की प्रवृत्ति अधिक है और 'ग्रन्थ साहब' तथा 'कबीर ग्रन्थावली' में संग्रहीत पदों में भक्ति और आत्मसमर्पण के भावों की प्रधानता है । 'बीजक' को सम्प्रदाय का धर्मग्रन्थ बनाने का प्रयत्न किया गया है । निस्संदेह कबीरदास में रूढ़ियों, साम्प्रदायिक भावनाओं और निरर्थक वाह्याचारों पर आक्रमण करने की प्रवृत्ति थी, पर यह उनकी नकारात्मक दृष्टि थी । उनकी वास्तविक देन उनकी भक्ति भावना ही थी ।

'रमैनियाँ' बीजक का महत्वपूर्ण अंग हैं । इसमें साधारणतः सात-सात चौपाईयों के बाद एक-एक दोहा संकलित किया गया है, जिसे कबीर पंथी सम्प्रदाय में 'साखी' कहा गया है । इनमें कुछ रमैनियाँ 'आदिग्रन्थ' में भी मिल जाती है । नागरी प्रचारिणी सभा की खोज के अनुसार कबीर कृत सबसे पुरानी बताई जाने वाली हस्तलिखित प्रतियाँ चार हैं - कबीर जी के पद, कबीर जी की साखी, कबीर जी की रमैनी, कबीर जी की कृत।

खोज के उपरांत 'कबीर जी की कृत' और 'कबीर जी की रमैनी' नहीं मिली। अतः अनुमान है कि 'रमैनी' शब्द का प्रचलन बाद में हुआ । आगे चलकर कबीर पंथी सम्प्रदाय में दोहे चौपाइयों में लिखी बातों को 'रमैनी' कहना रूढ़ हो गया । हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है - 'मेरा अनुमान है कि दोहा चौपाइयों में लिखी गई तुलसीदास की 'रामायण' के प्रभाव में कबीर पंथियों को भी अपनी रामायण बनाने को प्रोत्साहित किया और सन् ई0 की अठारहवीं शताब्दी में किसी समय दोहा चौपाई में लिखित पदों को 'रमैनी' कहा जाने लगा । बाद में चलकर कबीर पंथी साधुओं ने जो कुछ भी लिखा, उसे कबीर कृत रमैनी मान लिया गया ।'[1]

संत मत के समस्त कवियों में कवि कबीर सबसे अधिक प्रतिभाशाली एवं मौलिक थे । उन्होंने कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके कहीं पर कुछ नहीं लिखा है, न उन्हें काव्यशास्त्रीय परम्पराओं का ज्ञान था, फिर भी उनमें काव्यानुभूति इतनी प्रबल एवं उत्कृष्ट थी कि वे सरलता के साथ महाकवि कहलाने के उत्तराधिकारी हैं । सत्य है कि उनकी कविता में छन्द अलंकार, शब्द शक्ति गौड़ है और संदेश देने की प्रवृत्ति प्रधान है । इन संदेशों में आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रेरणा, पथ प्रदर्शन तथा संवेदना की भावना निहित है । अलंकारों से सुसज्जित न होते हुए भी उनके संदेश काव्यमय हैं ।

---

1. हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास-हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ-77

कबीर भावना की अनुभूति से युक्त, उत्कृष्ट रहस्यवादी, जीवन का संवेदनशील संस्पर्श करने वाले और मर्यादा के रक्षक कवि थे उन्होंने स्वतः कहा है- 'तुम जिन जानो गीत है, यह निज ब्रह्म विचार' पथ भ्रष्ट समाज को उचित मार्ग पर लाना ही उनका प्रधान लक्ष्य है ।

कवि के रूप में कबीर जीवन के अधिक निकट हैं । सहजता उनकी रचनाओं की सबसे बड़ी शोभा और कला की सबसे बड़ी विशेषता है उनके काव्य का आधार स्वानुभूति या यथार्थ है । उन्होंने स्पष्ट कहा है- "मैं कहता हूँ आखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी ।" वे जन्म से विद्रोही प्रकृति से समाज सुधारक, कारणों से प्रेरित होकर समाज सुधारक, प्रगतिशील दार्शनिक एवं आवश्यकतानुसार कवि थे । उनके व्यक्तित्व का पूरा-पूरा प्रभाव उनके साहित्य में विद्यमान है । कबीर का प्रतिपाद्य स्थूल रूप से दो भागों में विभाजनीय है । इसमें प्रथम रचनात्मक है द्वितीय आलोचनात्मक। रचनात्मक विषयों के अन्तर्गत सतुगुरु, नाम, विश्वास, धैर्य, दया, विचार, औदार्य, क्षमा, संतोष आदि विषयों पर व्यावहारिक शैली में भाव व्यक्त किये गये हैं । आलोचनात्मक विषयों में कबीर की प्रतिभा प्रकट हुई है । यहाँ वे आलोचक, सुधारक, पथ प्रदर्शक और समन्वयकर्ता के रूप में दृष्टिगत होते हैं । इस पक्ष के उल्लेखनीय विषय हैं - चेतावनी, भेष, कुसंग, माया, मन, कपट, कनक, कामिनी आदि । कबीर की अभिव्यंजना शैली बहुत शक्तिशाली है । प्रतिपाद्य के एक-एक अंग को लेकर इस निरक्षर

कवि ने सैकड़ों साखियों की रचना की है और प्रत्येक साखी में अभिनवता है । उन्होंने ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, योग, हठयोग आदि विषयों को बड़े सुबोध रूप में व्यक्त किया है । उनकी अभिव्यंजना शक्ति उनके व्यक्तित्व के अनुरूप है । जिस प्रकार उनकी दृष्टि में तीक्ष्णता तथा तीव्रता थी, उसी प्रकार उनकी अभिव्यंजक प्रतिभा भी प्रखर थी । उनके काव्य में बुद्धि तत्व की प्रधानता है, किन्तु वह शुष्क या नीरस नहीं है । आत्मा, परमात्मा, जीव, जगत आदि का विवेचन नीरस विषय है किन्तु कबीर ने इनके समाधान के लिए सरल भाषा, भावमयी अनुभूतियों, कल्पना आदि का सहारा लिया है । कबीर के काव्य में भावना तत्व की प्रचुरता है । उनकी कविता में कल्पना या कवित्व या प्रतिभा के दर्शन सर्वत्र होते हैं किन्तु व्यर्थ की कल्पनाओं के पीछे भटकना उनका लक्ष्य नहीं था । उनकी कल्पना शक्ति में व्यावहारिकता तथा कलात्मकता का सुन्दर समन्वय है ।

परवर्ती संत साहित्यः-

कबीर ने निम्न वर्गों में आत्मसम्मान की जो अग्नि प्रज्ज्वलित की, उसकी चिनगारी पूरे उत्तर भारत में फैल गयी । कबीर के समसामयिक संतों में सेन, पीपा, रैदास, धन्ना, आदि के अलग-अलग पंथ बताये जाते हैं किन्तु वे मूलतः कबीर पंथ से ही प्रभावित हैं । इनके अतिरिक्त अन्य संत तथा उनके पंथ - जंभनाथ का विश्नोई संप्रदाय, नानक पंथ, सिंगा पंथ, दादू पंथ, निरंजनी सम्प्रदाय, मलूकदासी पंथ, सतनामी पंथ, सुन्दरदास, सहजोबाई

आदि कबीर के ऋणी हैं । कबीरदास की व्याप्ति में सभी समाहित हो जाते हैं । यद्यपि प्रत्येक की अपनी विशेषतायें हैं किन्तु कबीर की प्रखर प्रतिभा और आग किसी अन्य में नहीं पायी जाती ।

रैदास: -

मध्ययुगीन साधकों में रैदास अथवा रविदास का विशिष्ट स्थान है । निम्न वर्ग में समुत्पन्न होकर भी उत्तम जीवन शैली, उत्कृष्ट साधना पद्धति तथा उल्लेखनीय आचरण के कारण वे आज भी भारतीय धर्म साधना के इतिहास में सादर स्मरण किये जाते हैं । इनकी कोई पुस्तक अभी तक उपलब्ध नहीं है लेकिन उनकी फुटकल वाणियाँ[1] प्राप्त हुई हैं । इससे ज्ञात होता है कि वे जाति से चमार थे । इन्होंने कई पदों में अपने को चमार कहा है - 'कह रैदास खलास चमारा' एवं 'ऐसी मेरी जाति विख्यात चमार' । ऐसा प्रतीत होता है कि ये कबीर के बहुत पीछे स्वामी रामानन्द के शिष्य हुए क्योंकि अपने एक पद में इन्होंने कबीर एवं सेन दोनों के तरने का उल्लेख किया है -

नामदेव कबीर तिलोचन सधना सेन तरे ।

कह रविदास, सुनहु रे संतनु । हरि जिउ ते सबहिं सरै ।।

रैदास के 100 के लगभग पद 'आदिग्रन्थ' में संग्रहित हैं । रैदास मूलत:

---

1. (क) रैदास की बानी, वेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद - 1909 ई0

(ख) रैदास रामायण, स्वामी सुखानन्द गिरि - 1925 ई0

संत थे, फलतः कबीर की भाँति उनका बल भी कलापक्ष की अपेक्षा प्रतिपाद्य पर अधिक रहा । अन्य ब्रह्ममार्गी कवियों की भाँति उनके लिए भी निर्गुण ब्रह्म अनुभूति और जिज्ञासा का विषय है । कभी वे उसकी सत्ता और स्वरूप की अभिव्यक्ति में अपनी असमर्थता स्वीकार करते हैं तो अन्यत्र उसे सुनिश्चित रूप देने के लिए उन्होंने ईश्वर के समस्त रूपों में एक्य और अभिन्नता के दर्शन भी किये हैं । मूर्ति-पूजा, तीर्थ-यात्रा आदि वाह्य विधानों का विरोध कर उन्होंने आभ्यन्तरिक साधना पर बल दिया है । रैदास के भजनों में अत्यंत शांत और निरीह भक्त हृदय का परिचय मिलता है । उनमें किसी प्रकार की वक्रता या अटपटापन नहीं है और न ज्ञान के दिखावे का आडम्बर ही है । अनाडम्बर, सहज शैली और निरीह आत्म समर्पण के क्षेत्र में रैदास के साथ कम संतों की तुलना की जा सकती है ।

धर्मदासः -

बाल्यावस्था में ही इनके हृदय में भक्ति का अंकुर था । ये साधुओं का सत्संग, दर्शन, पूजा तीर्थाटन किया करते थे । कबीर के मुख से मूर्ति पूजा, तीर्थाटन, देवार्चन का खण्डन सुनकर उनका झुकाव 'निर्गुण' संत मत की ओर हुआ । अंततः कबीर से सत्य नाम की दीक्षा लेकर उनके प्रधान शिष्यों में हो गये । इनकी रचना कम होने पर भी कबीर की अपेक्षा अधिक सरल भाव लिये हुए हैं । उसमें कठोरता, कर्कशता नहीं है । इन्होंने खण्डन मण्डन से विशेष प्रयोजन न रखकर प्रेमतत्व को लेकर अपनी वाणी का प्रसार किया।

नानक देवः-

नानक पंथ के प्रवर्तक गुरुनानक देव (1469-1538) इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति हैं । उनके द्वारा संस्थापित सम्प्रदाय ने उन्हीं के जीवनकाल में व्यापक संगठन का रूप धारण कर लिया । नानक देव समन्वयशील तथा उदार प्रवृत्ति के व्यक्ति थे । समाज एवं धर्म के सम्बन्ध में उनकी विचारधारा अनुभूति तथा समन्वय पर आधारित है । धार्मिक रूढ़िवाद, जाति के संकीर्ण बन्धनों तथा अनाचारों के प्रति उन्होंने सदैव विरोध का स्वर उठाया । उनके काल में निर्गुण ब्रह्म के प्रति उच्च कोटि की भक्ति भावना विद्यमान है। सत्य के प्रति आस्था के फलस्वरूप उनकी वाणी में स्पष्टता एवं उद्बोधन की प्रखरता मिलती है । कबीर की भाँति उनके काव्य में भी शांत रस की निर्बाध धारा प्रवाहित हुई है ।

नानक ने अनेक पदों की रचना की जो 'ग्रन्थ साहिब' में संकलित है । 'जपुजी' नानक दर्शन का सारतत्व है । 'असा दी वार', 'रहिरास' तथा 'सोहिला' उनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं । इनकी बानियों का मूल कथ्य यही है जो कबीर का है जैसे- नाम-महात्म्य, गुरुमहिमा, जातिपाति का विरोध, ब्रह्म की वैयक्तिक अनुभूति, सत्य, अहिंसा, परोपकार आदि । लेकिन इनके भजनों में न कबीर का अक्खड़पन है न खण्डन मंडन की प्रवृतित । जाति-पाति, छुआछूत और वाह्याचारों के प्रति आक्रमण का भाव उनकी उक्तियों में भी है किन्तु यह आक्रमण प्रधानतः बौद्धिक है, कबीर के समान अनुभूतिजन्य

नहीं । विनय एवं मृदुता में उनकी तुलना भक्त रैदास से की जा सकती है ।

दादू दयाल (1554-1603):

कबीर से प्रभावित अनेक सम्प्रदायों का उदय राजस्थान में हुआ। इनमें निरंजनी, साध, जसनामी, लालदासी, दादू आदि सम्प्रदाय प्रसिद्ध है। दादू सम्प्रदाय में स्वयं दादू की प्रभूत रचनायें मिलती हैं । दादू को उनकी दयालुता के कारण दादू दयाल भी कहा जाता है । दादू के जन्म स्थान एवं जाति के बारे में विद्वानों में मतैक्य नहीं है । अपने जीवनानुभव के आधार पर उन्होंने 'ब्रह्म सम्प्रदाय' नाम की एक संस्था स्थापित की । आगे चलकर उसी का नाम दादू पन्थ हो गया । दादू प्रतिभाशाली कवि थे । उन्होंने बीस सहस्त्र पदों और साखियों की रचना की थी । दादू की वाणियों का संग्रह पहले इनके दो शिष्यों संतदास और जगन्नाथ दास ने 'हरडेवाणी' नाम से किया । फिर रज्जब जी ने 'अंगबंधु' नाम देकर नये सिरे से इसका संपादन किया । दादू की वाणियाँ अपने सहज-मधुर गुणों के आकर्षण के बराबर लोकप्रिय बनी रहीं । स्व0 महामहोपाध्याय पं0 सुधाकर द्विवेदी, राय साहब चन्द्रिका प्रसाद द्विवेदी, राय दलभंजन सिंह, आचार्य क्षिति मोहन सेन आदि विद्वानों ने समय-समय पर इन वाणियों का संपादन किया है । स्वामी मंगलदास के संपादकत्व में इनकी वाणियों का एक सुसंपादित संस्करण प्रकाशित

हुआ है । दूसरी रचना 'कायाबेलि' है जिसमें साढ़े तीन सौ से अधिक पद हैं ।[1]

दादू कबीरदास के मार्ग के अनुगामी थे । उनकी उक्तियों में बहुत कुछ कबीरदास की छाया है । संभवतः समाज के निचले स्तर से उनका भी आविर्भाव हुआ था । जन्मगत अवहेलना को लेकर इनका भी हुआ था, पर उस युग तक कबीर का प्रवर्तित निर्गुण मतवाद काफी लोकप्रिय हो गया था । नीच कही जाने वाली जातियों में उत्पन्न महापुरुषों ने अपनी प्रतिभा और भगवन्निष्ठा के बल पर समाज के विरोध का भाव कम कर दिया था । दादू ने इसीलिए परम्परा समागत ऊँच-नीच विधान के लिए उत्तरदायी समझी जाने वाली जातियों पर उस तीव्रता के साथ आक्रमण नहीं किया जिसके साथ कबीर ने किया था । सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक रूढ़ियों और साधना संबंधी मिथ्याचारों पर आघात करते समय दादू कभी उग्र नहीं होते । उन्होंने बराबर इस बात पर जोर दिया कि भक्त होने के लिए नम्र, शीलवान होना चाहिए । कबीर की भाँति दादू ने भी रूपकों का कहीं-कहीं आश्रय लिया पर अधिक नहीं । अधिकांश में उनकी उक्तियाँ सीधी और सहज ही समझ में आ जाने लायक होती है ।

सुन्दरदास एवं अन्यः- दादू के शिष्यों में सुन्दरदास सर्वाधिक शास्त्रीय ज्ञान सम्पन्न

---

1. दादू दयाल के ग्रन्थ- (क) दादूदयाल की बानी, चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी अजमेर 1903
(ख) दादूदयाल के शब्द-सुधाकर द्विवेदी, नागरिणी प्रचारिणी सभा, 1901
(ग) दादू दयाल की बानी-स्वामी मंगलदास जी, जयपुर-1951

महात्मा थे । संत कवियों में सुन्दरदास एकमात्र कवि हैं जिन्हें पारम्परिक ढंग से शिक्षा मिली थी । इनकी कविता का तत्ववाद वही है, जो कबीर एवं दादू का है, परन्तु संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन के कारण उसमें सुथरापन आ गया है । काशी में उन्होंने शास्त्राभ्यास किया था । परिणामतः उनकी कविता के वाह्य उपकरण तो शास्त्रीय दृष्टि से निर्दोष हो चुके थे पर वक्तव्य विषय का स्वाभाविक वेग, जो इस जाति के की सबसे बड़ी विशेषता है, कम हो गया ।

सुन्दर दास ने अनेकों ग्रन्थों की रचना की, जिनमें 'ज्ञानसमुद्र' और 'सुन्दर - विलास' अधिक प्रसिद्ध है । हरिनारायण शर्मा द्वारा सम्पादित 'सुन्दर ग्रन्थावली' उनकी सभी रचनाओं का प्रमाणिक संकलन है । उनकी रचनाओं में भक्ति, योग साधना एवं नीति को प्रधान स्थान प्रापत हुआ है।

साहित्य की दृष्टि से 'मलूकदास' की रचनाओं का महत्व है। इनकी रचनायें अपनी एक अलग सत्ता रखती हैं । मलूकदास का नाम ही उनके 'अजगर करैन चाकरी, पंछी करै न काम । दास मलूका कह गये, सबके दाता राम' दोहे की याद दिला देता है । मलूकदास के लिखे कई ग्रन्थों का उल्लेख किया जाता है । 'रत्नखान', 'ज्ञान बोध', 'साखी', 'विष्णुपद' और 'दशरतन' मलूकदास के ग्रन्थ बताये जाते हैं । प्रकाशित रूप में बेलवेडियर प्रेस की 'मलूकदास की बानी' और डा0 परशुराम चतुर्वेदी के 'संतकाव्य' मे संग्रहीत मलूकदास का काव्य सर्वसुलभ है ।

भक्तिकाल में संत काव्यधारा के विकास में अनेक संतों का योगदान रहा । इनमे उपरोक्त के अतिरिक्त धर्मदास, रज्जब, बावरी साहिबा, सदना, बेनी, पीपा, सेन, धन्ना, अंगद प्रभृति सिख गुरु, शेख फरीद, भीषन, वीरभान, निपट निरंजन उल्लेखनीय है । संत धर्मदास ने कबीर वानी को 'बीजक' में संकलित किया । धर्मदास की रचनायें 'धनी धरमदास की बानी' में संकलित है । संत रज्जब की गणना दादूदयाल के शिष्यों में की जाती है । दादू दयाल की समग्र रचनाओं को 'अंग बधू' शीर्षक कृति में इन्होंने ही संकलित किया था । एक अन्य रचना 'सब्बंगी' में इन्होंने अपनी रचनाओं के साथ अन्य प्रसिद्ध निर्गुण संत कवियों की वाणी का भी संकलन किया है । इनकी रचनायें 'रज्जब-बानी' में संग्रहीत हैं ।

सूफी साहित्यः-

मध्यकाल का प्रारम्भिक चरण सांस्कृतिक संक्रान्ति का युग था। उस संक्रान्ति के फलस्वरूप जड़ीभूत जनता के जीवन में सूफी काव्य ने आशा-प्रेरणा एवं आस्था की नवचेतना जागृत की । 'सूफी काव्य ने दोनों संस्कृतियों के समन्वय से ऐसे सुगम मार्ग की स्थापना की जिसमें केवल हृदय की शुद्धि एवं प्रेम की व्याप्ति का ही महत्व था । ------- देश की जनता में अधिकाधिक उत्साह एवं विकास उत्पन्न करना तथा परस्पर विरोधी संस्कृतियों में सामंजस्य और समन्वय की भावना उत्पन्न कर शांति बनाये रखना ही

सूफी साधकों का सामाजिक उद्देश्य था ।'[1]

संत कवियों ने सामन्जस्य एवं समन्वय की भूमिका पहले ही बना दी थी, सूफी कवियों ने इसे विकसित किया । सूफी काव्य धारा की समीक्षा करते हुए 'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है - "सौ वर्ष पहले कबीरदास हिन्दू एवं मुसलमान दोनों के कट्टरपन को फटकार चुके थे । पण्डितों एवं मुल्लाओं को तो नहीं कह सकते, पर साधारण जनता 'राम एवं रहीम' की एकता मान चुकी थी । साधुओं और फकीरों को दोनों दीन के लोग आदर एवं सम्मान की दृष्टि से देखते थे। साधु या फकीर भी सर्वप्रिय वे ही हो सकते थे जो भेदभाव से परे दिखाई पड़ते थे । बहुत दिनों तक एक साथ रहते-रहते हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के सामने अपना-अपना हृदय खोलने लगे थे जिससे मनुष्यता के सामान्य भावों के प्रवाह में मग्न होने और मग्न करने का समय आ गया था । जनता की प्रवृत्ति भेद से अभेद की ओर हो चली थी । मुसलमान हिन्दुओं की राम कहानी सुनने को तैयार थे और हिन्दू मुसलमानों का दास्तान हम्जा। नल एवं दमयन्ती की कथा मुसलमान जानने लगे थे और लैला मजनू की हिन्दू । ईश्वर तक पहुँचाने वाला मार्ग ढूँढ़ने की सलाह भी दोनों कभी-कभी साथ बैठकर करने लगे थे । ---- ऐसे समय में कुछ भावुक मुसलमान

---

1. नागरिणी प्रचारिणी पत्रिका (शोध विशेषांक) में प्रकाशित निबन्ध- भारतीय सांस्कृतिक जीवन में 'मिरगावती' काव्य का योगदान,- माधुरी आचार्य पृष्ठ - 147

'प्रेम की पीर' की कहानियाँ लेकर साहित्य क्षेत्र में उतरे । ये कहानियाँ हिन्दू के घर की ही थी । इनकी मधुरता और कोमलता का अनुभव करके इन कवियों ने यह दिखला दिया कि एक ही गुप्त तार मनुष्य मात्र के हृदयों से होता हुआ गया है जिसे छूते ही मनुष्य सारे बाहरी रूप रंग भेदों की ओर से ध्यान हटा कर एक तत्व का अनुभव करने लगता है ।"[1]

यहाँ यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि हिन्दू कवि मुस्लिम संस्कृति से सम्बन्धित काव्य रचना करने के लिए उतने प्रसिद्ध नहीं हुए जितने हिन्दू संस्कृति से संबंधित काव्य रचना करने वाले मुसलमान कवि प्रसिद्ध हुए । एक कारण यह हो सकता है कि उनकी रचनायें उतनी उत्कृष्ट न हों जितनी मुसलमान कवियों की हैं ।

सूफियों ने अपनी कहानियों द्वारा प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक सा प्रभाव दिखाई पड़ता है । हिन्दू - हृदय और मुसलमान-हृदय आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा। इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शी अवस्थाओं के साथ अपने

---

1. जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृष्ठ - 12

का रचनाकाल 1500 ई0 के लगभग है । इसमें भगवत्प्रेम का स्वरूप प्रेममार्ग के कष्टों का निरूपण करके प्रकट किया गया है ।

दूसरी रचना मंझन कृत 'मधुमालती' है । रचनाकाल सन् 1545 ई0 माना जाता है । 'मृगावती' की अपेक्षा काव्य सौन्दर्य की द्रृष्टि से मधुमालती श्रेष्ठ है । 'मृगावती' की अपेक्षा इसकी कल्पना भी विशद् है और वर्णन भी अधिक विस्तृत और हृदयग्राही है ।'[1] सभी विद्वान इस सम्बन्ध में एकमत है कि उसमें वर्णित लौकिक प्रेम ईश्वरोन्मुख प्रेम का प्रतीक है ।

तीसरा महत्वपूर्ण नाम 'पद्मावत' का है । जायसी द्वारा रचित यह ग्रन्थ शुद्ध रहस्यवादी सूफी प्रेमाख्यानक प्रबन्ध काव्य है । इसका रचनाकाल सन् 1540 माना जाता है । विभिन्न विद्वानों ने खोजों के आधार पर जायसी के चौबीस ग्रन्थोंका उल्लेख किया है । शुक्ल जी ने 'जायसी ग्रन्थावली' में तीन ग्रन्थ ही सम्मिलित किये हैं - 'पद्मावत', 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' । किन्तु जायसी की कीर्ति का आधार ग्रन्थ पद्मावत ही है । इतिहास, हिन्दू समाज, हिन्दू धर्म, कल्पना, सूफी सिद्धान्त इन सभी का सुन्दर समिश्रण जायसी ने पदमावत् में किया है । पद्मावत में जायसी का प्रयास यद्यपि पूरे काव्य में आध्यात्मिक संकेत निबाहने की है, किन्तु कहीं-कहीं नितान्त

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरिणी प्रचारिणी सभा, उन्तीसवाँ संस्करण, पृष्ठ - 52

लौकिक वर्णनों ने ऐसा सम्भव नहीं हो सका है । इसका कारण है कि प्रत्येक छोटी-छोटी बात को जो महत्वपूर्ण नहीं भी है, जायसी ने उसका विस्तार से वर्णन किया । डा0 रामकुमार वर्मा के शब्दों में - "सारी कथा का घटना पक्ष अध्यात्मवाद से नहीं मिल सकता है । इसका एक कारण और भी हो सकता है, वह यह कि जायसी एक प्रेम कहानी कहना चाहते हैं । ये अपनी प्रेम कहानी के प्रवाह में सभी घटनाओं को कहते चलते हैं और आध्यात्मिकता भूल जाते हैं । जब मुख्य घटनाओं की समाप्ति पर इन्हें अपने अध्यात्मवाद की याद आती है तो उसका निर्देश कर देते हैं। पर कथा की व्यापकता में अध्यात्मवाद सम्पूर्ण रूप से घटित नहीं हो पाता, क्योंकि कथा घटना प्रसंग से प्रेरित होकर कही गई है ।"[1]

पद्मावत के पश्चात् उल्लेखनीय ग्रन्थ 'चित्रावली' है जो सूफी काल में महत्वपूर्ण माना जा सकता है । इसकी विशेषता यह है कि अन्य प्रेमाख्यानकों की भाँति इसमें इतिहास का आश्रय नहीं लिया गया है, शुद्ध कल्पना की दृष्टि से लिखे गये इस ग्रन्थ में आध्यात्मिकता और नीति को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । 'चित्रावली के रचनाकार 'उसमान' कवि माने जाते हैं ।

'चित्रावली' के बाद भी अनेक प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गये किन्तु

---

1. **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास**, डा0 रामकुमार वर्मा, पृष्ठ-445

आध्यात्मिक दृष्टि से इन परवर्ती काव्यों का विशेष महत्व नहीं है । इस प्रकार की माधवानल, पुहुयावती, कामकन्दला, नलदमन आदि रचनायें हैं किन्तु उसमें आध्यात्मिक प्रेरणा का अभाव है । सूफी प्रेमाख्यानक काव्य जो भक्ति साहित्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है मुख्यतः चार हैं। मृगावती, मधुमालती, पद्मावत एवं चित्रावली । इनमें मृगावती अनुपलब्ध हैं । मधुमालती, पद्मावत एवं चित्रावली प्रकाशित रूप में प्राप्त हैं । पं0 रामचन्द्र शुक्ल एवं डा0 रामकुमार वर्मा ने भी इन्हीं चार ग्रन्थों - मृगावती, मधुमालती, पद्मावत एवं चित्रावली में ही आध्यात्मिक संकेतों का उल्लेख किया है ।

इस प्रकार समस्त सूफी काव्य का केन्द्र बिन्दु प्रेम ही मूलभूत तत्व है । यही कारण है कि सूफियों का भारत वर्ष में विरोध नहीं हुआ। सूफी कवि किसी धार्मिक विचारधारा में न बँधकर सीधे लोक से जुड़े रहे। सूफी काव्य का दृष्टिकोण सकारात्मक था । इन कवियों ने प्रेम जैसे सार्वभौमिक तत्व को दोनों विचारधाराओं के मध्य प्रतिस्थापित करके दो विरोधी संस्कृतियों में समन्वय की चेष्टा की । प्रेम को इन्होंने समन्वय सूत्र के रूप में ग्रहण किया । इन रचनाओं का सांस्कृतिक मूल्य इनके दार्शनिक व आध्यात्मिक योगदान से अधिक है । इन कवियों ने प्रेम के धरातल पर खड़ा होकर सांस्कृतिक समन्वय की जिस धारा का सूत्रपात किया वह समस्त भक्ति साहित्य की रीढ़ है ।

कृष्ण भक्ति काव्य:-

सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में कृष्ण भक्ति काव्य परम्परा सबसे लम्बी एवं समृद्ध है । हिन्दी साहित्य में कृष्ण भक्ति से प्रेरित होकर सबसे अधिक साहित्य का सृजन हुआ । बल्लभ सम्प्रदाय के 'अष्टछाप' के कवियों का ही साहित्य अन्य किसी भी शाखा के समस्त साहित्य से कहीं अधिक हैं । 1400 ई0 के पहले लिखे गये कृष्ण भक्ति सम्बन्धी साहित्य में जयदेव का उल्लेख किया जाता है । जयदेव ने कृष्ण भक्ति सम्बन्धी रचनायें संस्कृत में की थीं । 'ग्रन्थ साहब' में संग्रहित उनके कुछ पद हिन्दी में हैं वे कृष्ण भक्ति से सम्बन्धित न होकर निर्गुण भक्ति से सम्बन्धित हैं । अतः जयदेव को कृष्ण भक्ति परम्परा में तो रखा जा सकता है, किन्तु हिन्दी साहित्य की कृष्ण भक्ति रचनाओं को जयदेव का कुछ भी सहयोग न मिला । 15वीं शताब्दी में विद्यापति का लिखा हुआ कृष्ण भक्ति सम्बन्धी साहित्य उपलब्ध होता है । विद्यापति की अधिकांश रचनायें संस्कृत में हैं । विद्यापति की पदावली जो हिन्दी साहित्य के इतिहास में सर्वप्रथम कृष्ण भक्ति सम्बन्धी ग्रन्थ के रूप में उल्लिखित की जाती है वह कहाँ तक कृष्ण के प्रति भक्ति की भावना से समन्वित है, यह विचार का विषय है । इतना अवश्य है कि इस ग्रन्थ में कृष्ण तथा राधा को लेकर सुन्दर पद हैं किन्तु कृष्ण के प्रति भक्ति का भाव रचनाकार में नहीं जान पड़ता है ।

कृष्ण भक्ति की सच्ची प्रेरणा से उद्भूत हिन्दी में सबसे पहली रचनायें सूरदास की ही उपलब्ध होती है । सूरदास को अनेक रचनाओं का प्रणेता माना जाता है । अनुसंधानों से उनके नाम पर प्रचलित पचीस कृतियों का पता लगा है, किन्तु उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है । उनकी तीन प्रसिद्ध कृतियों की चर्चा की जाती है - सूर सारावली, साहित्य लहरी एवं सूरसागर।

'सूर - सारावली' एवं 'साहित्य - लहरी' को मिश्र - बन्धु, रामचन्द्र शुक्ल, नन्द -दुलारे वाजपेयी, दीन दयालु गुप्त, प्रभुदयाल मीतल आदि प्रामाणिक मानते हैं । किन्तु ब्रजेश्वर वर्मा इन्हें अप्रमाणिक मानते हैं । 'सूर सारावली' अपनी शैली में एक भिन्न कवि 'सूरजदास' द्वारा रची मालूम प्रतीत होती है । एक साम्प्रदायिक ग्रन्थ है । 'सूरजदास' के कुछ पद 'सूरसागर' में भी है । 'साहित्य -लहरी' में पेशवाओं का संकेत उसे इतिहास विरुद्ध और अप्रमाणिक सिद्ध कर देता है । कुल मिलाकर यह लक्षण ग्रन्थ है जो सूर का प्रतीत नहीं होता है।

'सूरसागर' ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसके आधार पर सूरदास की कीर्ति पताका फहरा रही है । सूरसागर के रूप में प्राप्य सूरदास का काव्य कृष्ण भक्ति साहित्य की एक अत्यन्त अमूल्य निधि है । अकेला यह ग्रन्थ कृष्ण भक्ति सम्बन्धी समस्त श्रेष्ठ भावों से समन्वित है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं - "सूरदास जब अपने प्रिय विषय का वर्णन शुरू

करते हैं तो मानों अलंकारशास्त्र हाथ जोड़कर उनके पीछे-पीछे दौड़ा करता है । उपमाओं की बाढ़ सी आ जाती है । रूपकों की वर्षा होने लगती है। संगीत के प्रवाह में कवि स्वयं बह जाता है । वह अपने को भूल जाता है । काव्य में इस तन्मयता के साथ शास्त्रीय पद्धति का निर्वाह विरल है। पद-पद पर मिलने वाले अलंकारों को देखकर कोई भी अनुमान नहीं कर सकता कि कवि जान बूझकर अलंकारों का प्रयोग कर रहा है ।[1]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सूर काव्य के महत्व को रेखांकित करते हुए लिखते हैं - "जिसने सूरसागर नहीं पढ़ा उसे यह बात सुनकर कुछ अजीब सी लगेगी, शायद वह विश्वास ही नहीं कर सके, पर बात सही है । काव्य गुणों की इस विशाल वनस्थली में एक अपना सहज सौन्दर्य है । वह उस रमणीय उद्यान के समान नहीं, जिसका सौन्दर्य पद-पद पर माली के कृतित्व की याद दिलाया करता है, बल्कि उस अकृत्रिम वनभूमि की भाँति है, जिसका रचयिता रचना में ही घुल मिल गया है ।"[2] समस्त सूरसागर लीलागान के रूप में लिखा गया है । कुछ लोगों का मानना है कि सूरसागर श्रीमद् भागवत का अनुवाद मात्र है किन्तु सूरसागर का अध्येता जानता है कि यह एक मात्र ऐसा भक्ति काव्य है जो साहित्यगत समस्त

---

1. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास-हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 107
2. वही, पृष्ठ - 108

विशेषताओं के साथ, भक्ति समन्वित होते हुए वास्तविक कवि प्रतिभा का सच्चा परिचायक है । कृष्ण की लीला को लेकर एक भक्त का हृदय कितनी नवीन कल्पनायें, कितने स्वाभाविक रूप में कर सकता है, यह इस ग्रन्थ में द्रष्टव्य है ।

कृष्ण भक्ति साहित्य में 'सूरसागर' के पश्चात् नन्ददास रचित 'रास पंचाध्यायी' और 'भँवरगीत' इन दो ग्रन्थों का स्थान है । इनका रचनाकाल सन् 1550 ई0 के बाद का है । ये 'सूरसागर' की भाँति कृष्ण की समस्त लीलाओं को लेकर नहीं लिखे गये हैं । कृष्ण की लीला के विशिष्ट अंशों को लेकर इन ग्रन्थों की रचना हुई है । इन ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य अनेक ग्रन्थों की रचना नन्ददास ने की । 'भागवत दशम स्कन्ध', 'रुक्मिणी मंगल', 'सिद्धान्त पंचाध्यायी', 'रूप मंजरी', 'रसमंजरी' आदि । किन्तु कृष्ण भक्ति के दृष्टिकोण से केवल 'रास पंचाध्यायी' एवं भँवरगीत का ही महत्व है। 'भँवरगीत' इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि इसमें रचयिता के भक्तिभाव के साथ-साथ उसका दार्शनिक पक्ष भी स्पष्ट होता है । नन्ददास के ही समय कृष्णदास ने 'भ्रमरगीत' एवं 'प्रेमतत्व निरूपण' की रचना की । किन्तु इनका साहित्य सूरदास एवं नन्ददास के साहित्य के समक्ष कम महत्वपूर्ण है ।

सोलहवीं शताब्दी के मध्य कृष्ण भक्ति साहित्य की सर्वाधिक रचना हुई । सूरदास, नन्ददास कृष्णदास के अतिरिक्त अष्टछाप के पाँच अन्य कवियों ने हिन्दी के कृष्ण भक्त साहित्य को सम्पन्न किया । परमानन्द दास,

कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीत स्वामी एवं गोविन्द स्वामी के पदों में कृष्ण के प्रति भक्तिभाव प्रचुर मात्रा में मिलता है । परमानन्द दास ने 'परमानन्द सागर' लिखा । परमानन्द दास रचित दो अन्य पुस्तकों के नाम मिलते हैं- 'ध्रुवचरित्र' एवं 'दानलीला' । कुंभनदास का कोई संग्रह ग्रन्थ मूल रूप में नहीं प्राप्त होता है । चतुर्भुजदास की तीन पुस्तकें - 'द्वादश यश',' हितजू को मंगल' और 'भक्ति प्रकाश' मिलती है इसके अतिरिक्त कुछ फुटकल पद भी प्राप्त हुए हैं । छीत स्वामी एवं गोविन्द स्वामी की कोई पुस्तक नहीं मिली है । फुटकल कुछ पद ही प्राप्त हुए हैं ।

अष्टछाप के नाम से प्रसिद्ध आठ कवियों के पद साहित्य कमे अतिरिक्त और भी पद साहित्य की रचना कृष्ण भक्ति की प्रेरणा के फलस्वरूप हुई । इनमें सबसे विशिष्ट पद मीराबाई के हैं । इनका रचनाकाल 16 वीं शताब्दी के मध्य का ज्ञात होता है । मीरा के पदों से ज्ञात होता है कि कृष्ण के प्रति मीरा की आत्मा कितनी व्याकुल थी । जिस समय कृष्ण भक्ति कवि विभिन्न सम्प्रदायों से बँधकर कविता कर रहे थे उसी समय मीरा सम्प्रदाय निरपेक्ष होकर अपने भावों को कृष्णार्पित कर रही थीं मीरा को किसी दूसरे की भाव भूमि में, चाहे वह गोपी भाव की भूमि हो या राधा भाव की, प्रवेश करने की आवश्यकता ही नहीं थी । वे स्वयं भावस्वरूप हैं । मीराबाई का दो सौ पदों का संग्रह 'मीराबाई की पदावली' के रूप में उपलब्ध है जिसका एक-एक पद भक्ति की अति उच्च भावना का सच्चा

प्रतिनिधित्व करता है । बच्चन सिंह लिखते हैं - "उनमें एक ओर निर्गुण पन्थ का योग, अनहदनाद, शून्य महल, सुरत, त्रिकुरी आदि हैं तो दूसरी ओर सूरदास के विनय के पदों की तरह पद भी हैं । एक ओर दाम्पत्य राग है तो दूसरी ओर असह्य विरहाकुलता । उनका स्वच्छन्द व्यक्तित्व किसी रूढ़िग्रस्त धार्मिक घेरे में नहीं बँधता ।"[1] बच्चन सिंह मीरा की लोकप्रियता का कारण बताते हुए लिखते हैं कि - 'मीरा की लोकप्रियता का पहला कारण ऊँचे राजकुल का त्याग करके साधुओं संतों एवं भक्तों के बीच सामान्य जन के स्तर पर भक्तिभाव की अभिव्यक्ति, दूसरा कारण - सम्प्रदाय निरपेक्षता और तीसरा कारण है - 'ऐसी भाषा का प्रयोग जो लोक जीवन में रची बसी थी ।'[2]

कृष्ण भक्ति साहित्य के क्षेत्र में रसखान की रचनायें भी अपना स्थान रखती हैं । मुसलमान होते हुए भी हिन्दू से भी अधिक भाव प्रवणता के साथ कृष्ण के प्रति भक्ति की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने अपनी काव्य रचना की थी । इनकी भगवद् भक्ति में अत्यन्त गूढ़ प्रेमभाव है इनकी दो रचनायें प्राप्त हैं - 'सुजान रसखान' एवं 'प्रेमवाटिका' । दोनों ही ग्रन्थ छोटे होते हुए भी अत्यन्त सरस हैं । रज्जब, सहजोबाई आदि

---

1. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास - बच्चन सिंह, अंकुर प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 143
2. वही, पृष्ठ - 143

भी इस परम्परा में महत्वपूर्ण नाम हैं जिन्होंने हिन्दू घरों की लोककथाओं को आधार बनाकर, बिना किसी धार्मिक या वैचारिक हदबंदी के, कृष्ण की लीलाओं का भावपूर्ण गायन किया । भारतेन्दु बाबू ने इसीलिए लिखा- 'इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिंदुन वारिये ।'

रामभक्ति साहित्य:-

रामकथा के ओज एवं माधुर्य को जनमानस की भावभूमि पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय भक्तिकालीन भक्त कवियों को ही प्राप्त है । भक्तिकाल का राजनीतिक एवं सामाजिक वातावरण राम के लोक रक्षक रूप की अभिव्यक्ति के सर्वाधिक अनुकूल था । उत्तर भारत में राम भक्ति के प्रवर्तन का प्रमुख श्रेय आचार्य रामानन्द को प्राप्त है । राम काव्य परम्परा के अन्तर्गत 'राम रक्षा श्रोत' उनकी प्रसिद्ध रचना है । वर्णाश्रम धर्म में आस्था रखते हुए भी इन्होंने भक्ति मार्ग का सभी को समान भाव से अधिकारी माना एवं निम्नवर्ग के भक्तों को अपना शिष्यत्व प्रदान किया । कबीर, रैदास, धन्ना, पीपा आदि इनके शिष्य थे ।

स्वामी रामानन्द की शिष्य परम्परा में ही रामभक्त कवि अग्रदास हुए । अग्रदास के मुख्य ग्रन्थों में 'ध्यान मंजरी', 'अष्टयाम', 'रामभजन मंजरी', 'उपासना बावरी' और 'पदावली' हैं । सुन्दर पद रचना एवं अलंकारों के यथास्थान प्रयोग से प्रमाणित होता है कि इन्हें शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त था ।

तुलसी के पूर्व एक अन्य रामभक्त कवि ईश्वरदास भी उल्लेखनीय हैं । ईश्वरदास के मुख्य ग्रन्थ - 'सत्यवती कथा', स्वर्गारोहिणी कथा', तथा 'एकादशीकथा' है । इसके अतिरिक्त उन्होंने रामकाव्य के सम्बन्ध में 'रामजन्म', 'भरत मिलाप' और 'अंगदपैज' लिखी । इनमें सबसे प्रमुख है - 'भरतमिलाप'। इस ग्रन्थ में भरत का विलाप वर्णित है । इस काव्य में जिस दास्य भक्ति का चित्रण है उससे तुलसी का मानस प्रभावित है ।

रामचरित को लेकर महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली ग्रन्थ का सृजन 'तुलसीदास' ने किया । तुलसीदास की कई रचनायें प्राप्त हो चुकी हैं किन्तु विद्वानों ने केवल बारह ग्रन्थों को ही प्रमाणिक माना है - 'रामचरित मानस', 'रामलला नहछू', 'वैराग्य संदीपनी', 'बरवै रामायण', 'पार्वती - मंगल', 'जानकी मंगल', 'रामाज्ञाप्रश्न', दोहावली, कवितावली, गीतावली, विनय - पत्रिका, श्रीकृष्ण गीतावली । यद्यपि तुलसी की अक्षय कीर्ति का आधार 'रामचरित मानस' ही है फिर भी उनकी अन्य कृतियाँ कम महत्वपूर्ण नहीं हैं । अतः उनका यथोचित मूल्यांकन उनकी समान रचनाओं के संदर्भ में ही हो सकता है ।

तुलसी की सभी रचनाओं में भाव वैविध्य है । एक ओर उन्होंने नाथपन्थियों के प्रभाव से नष्ट होती जनमानस की विश्वासमयी रागात्मिकता वृत्तियों को रामभक्ति के माध्यम से पुनः पल्लवित किया तो दूसरी ओर रामकथा के माध्यम से राजनीतिक, सामाजिक, एवं पारिवारिक जीवन के आदर्शों को प्रस्तुत कर समाज को केन्द्रित करने का प्रयास किया ।

तुलसी की भक्ति मूलतः लोकसंग्रह की भावना से अभिप्रेरित है । तुलसी ने राम के शील, शक्ति एवं सौन्दर्य के अद्भुत रूप का गुणगान करते हुए लोकमंगल की साधनावस्था के पथ को प्रशस्त किया । 'मानस' में उन्होंने राम एवं शिव दोनों को एक दूसरे का भक्त अंकित करके वैष्णव एवं शैव सम्प्रदायों को एक ही सामान्य भाव भूमि प्रदान की । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है - भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है, जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर आया हो । भारतीय समाज में नाना प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचार विचार और पद्धतियाँ प्रचलित हैं । तुलसीदास स्वयं नाना प्रकार के सामाजिक स्तरों में रह चुके थे ------ उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है । उनमें केवल लोक एवं शास्त्र का ही समन्वय नहीं है, वैराग्य और गार्हस्थ्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा एवं संस्कृति का, निर्गुण एवं सगुण का, पुराण एवं काव्य का, भावावेश एवं अनासक्त चिंतन का, ब्राह्मण एवं चाण्डाल का, पंडित एवं अपंडित का समन्वय, रामचरित मानस के आदि से अंत दो छोरों पर जाने वाली पराकोटियों को मिलाने का प्रयत्न है ।"[1]

तुलसीदास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सर्वाधिक प्रिय एवं आदर्श कवि हैं । तुलसी की काव्य सर्जना के विविध पहलुओं एवं गुण की व्याख्या

---

1. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, तीसरी आवृत्ति 1999, पृष्ठ - 132-133

के लिए शुक्ल जी जहाँ एक स्तर पर अप्रतिम हैं, वहीं दूसरी ओर तुलसीदास एवं उनके युग से सम्बन्धित अपने समीक्षात्मक विवेक को लेकर वे कुछ लोगों की दृष्टि में विवादास्पद भी हैं किन्तु सत्य है कि आचार्य शुक्ल की समीक्षा दृष्टि तुलसीदास की आलोचना में जितनी प्रखर, स्पष्ट एवं मौलिक है उतनी उनकी समूची आलोचना प्रक्रिया में कहीं नहीं परिलक्षित होती है । भक्ति आन्दोलन के सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में आचार्य शुक्ल ने तत्कालीन विचारधारात्मक संघर्ष से जूझते हुए तुलसी के युग एवं उनकी रचना प्रक्रिया की बाहरी भीतरी परिस्थितियों, समाज, धर्म, दर्शन, जातीय दृष्टि को विश्लेषित करते हुए तुलसी की काव्य रचना प्रक्रिया की विलक्षण व्याख्या की है । यह बात महत्वपूर्ण है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर, जायसी, सूर में भक्ति एवं प्रेम को सांस्कृतिक समन्वय के रूप में व्याख्यापित करने के बावजूद लोक हृदय, लोक जीवन, लोक धर्म, लोक चेतना की वास्तविक गम्भीरता उन्होंने तुलसी के रचना संसार में देखी है । उन्हें तुलसी से बड़ा जीवन विस्तार, घटना वैविध्य, भावात्मक गहराई और सौन्दर्य दृष्टि, शील, शक्ति आदि हिन्दी के किसी दूसरे कवि में नहीं परिलक्षित होता है ।

अन्य राम भक्ति कवि:-

तुलसीदास के समकालीन रामभक्त कवियों में नाभादास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । इन्होंने हिन्दी में भक्तमाल परम्परा का सूत्रपात ही नहीं किया, वरन् अब तक उपलब्ध भक्तमालों में सर्वश्रेष्ठ भक्तमाल

हिन्दी को दिया । उनकी रचनाओं में 'अष्टयाम' तथा रामभक्ति विषयक पद उपलब्ध होते हैं जिनके आधार पर इन्हें रामभक्त स्वीकार किया जाता है । भक्तिकाल के रामभक्त कवियों में प्राणचन्द चौहान, माधवदास, हृदयराम, नरहरि बारहट, केशव, सेनापति भी महत्वपूर्ण है । प्राणचन्द चौहान ने 1610 ई0 में 'रामायण महानाटक' की रचना की थी । जो शैली की दृष्टि से नाटक न होकर वस्तुतः संवादात्मक प्रबंधकाव्य है । संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' का प्रभाव इस रचना पर अनेक स्थलों पर दिखाई देता है । माधव दास चारण की दो रचनायें - 'रामरासों' एवं 'अध्यात्म रामायण' प्रसिद्ध हैं । 'रामरासों' में रामकथा के सम्पूर्ण विस्तार में न जाकर मुख्य घटनाओं, जीवन प्रसंगों एवं चारित्रिक विशेषताओं का संक्षेप में कथन है । 'अध्यात्म रामायण' पर संस्कृत की अध्यात्म रामायण का प्रभाव है । रामकाव्य परम्परा के अन्तर्गत हृदयराम का 'हनुमन्नाटक' (1623) प्रसिद्ध कृति है । इसमें सीता स्वयंवर से लेकर राज्याभिषेक तक की कथा संवाद शैली में वर्णित है । नरहरि बारहट कृत 'पौरुषेय रामायण' राम काव्य परम्परा की प्रौढ़ कृति है । इसका रचनाकाल 'रामचरित मानस' के बाद का है । कवि ने इसे 'पौरुषेय रामायण' इसलिए कहा है क्योंकि 'वाल्मीकि रामायण' आर्ष ग्रन्थ है । जबकि यह ग्रन्थ एक सामान्य पुरुष की कृति है । कवि ने प्रमुखतः 'वाल्मीकि रामायण' को आधार रूप में ग्रहण किया है । लालदास का 'अवध विलास' (1643) भी रामकाव्य परम्परा का प्रसिद्ध काव्य है । इसमें रामजन्म से लेकर उनके वनगमन तक की कथा को इसमें ग्रहण किया गया है ।

राम भक्ति साहित्य को देखते हुए केशव की 'रामचन्द्रिका' भी विचारणीय है । 'रामचन्द्रिका' राम सम्बन्धी कथानक को लेकर लिखी गयी है । 'रामचन्द्रिका' के अध्ययन से प्रतीत होता है कि इसके रचयिता ने भक्ति भावना से प्रेरित होकर इस ग्रन्थ की रचना नहीं की है । यह ग्रन्थ पाण्डित्य प्रदर्शन के लक्ष्य से लिखा हुआ जान पड़ता है ।

कुछ विद्वानों ने सेनापति को भी रामभक्ति साहित्य में स्थान दिया है, यद्यपि समय के आधार पर वे रीतिकाल के कवि हैं । इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ कवित्त रत्नाकर प्रकाशित रूप से उपलब्ध है । इस ग्रन्थ की चौथी तरंग राम सम्बन्धी है । पाण्डित्य से समन्वित इन राम संबंधी कवित्तों में भक्ति का अभाव नहीं है किन्तु भक्ति के साथ पाण्डित्य का मिश्रण अधिक है ।

रामभक्ति साहित्य सम्बन्धी ऊपर जिन रचनाओं एवं कवियों का उल्लेख है, उनमें तुलसीदास ही प्रमुख हैं ।

*****
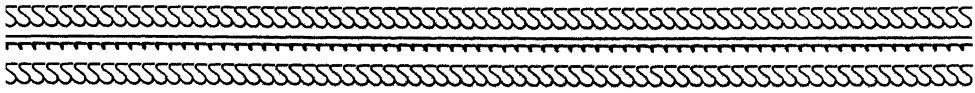
चतुर्थ अध्याय

सगुण साहित्य का समाजशास्त्रीय मूल्यांकन
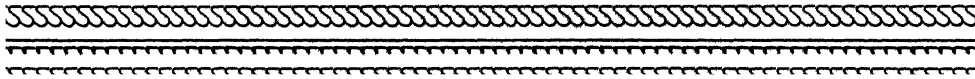
सगुण साहित्य का समाजशास्त्रीय मूल्यांकन

सगुण एवं निर्गुण के विभाजन का आधार:-

संसार में जो कुछ दृश्यमान है उसका आदि श्रोत एक ही सत्य है । निर्गुण एवं सगुण दोनों विचारधाराओं का उद्‌गम उस एक 'सत्य' की अनुभूति के पश्चात् ही हुआ । निर्गुण एवं सगुण का प्रश्न उस समय पैदा हुआ जब उस अलौकिक अनुभूति के अभिव्यक्तिकरण की समस्या सामने आयी । इस अभिव्यक्तिकरण की विविध क्षेत्रीय बहुरूपता इस सत्य की कोटियाँ निर्धारित करने में कारणभूत हुई ।

निर्गुण विचारधारा के तत्वों को दृष्टिगत किया जाय तो यहाँ ब्रह्म को निर्गुण कहने के साथ ही उसके व्यापकत्व पर सर्वाधिक बल दिया गया है । इस व्यापकत्व को निर्गुण सिद्ध करने के लिए इस प्रकार के वर्णन किये गये हैं कि वह निर्गुण ब्रह्म विश्व में पूर्ण रूप से व्याप्त होने पर भी पूर्ण रूप से उससे परे है । निर्गुण विचारधारा में ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है । जगत् के कण-कण में वही वर्तमान है । उससे अतिरिक्त कुछ है ही नहीं । अत: जीव तो राम है ही, जगत् भी राम ही है । संतों ने सभी में एक राम को ही देखा है । 'एक राम देख्या सबहिन मैं कहैं कबीर मन मानां ।'[1] सृष्टि में सृष्टा और सृष्टा में सृष्टि - हर घर मे वह सृष्टा ही समाया हुआ है ।

---

1. कबीर ग्रन्थावली - श्याम सुन्दर दास, पृष्ठ - 105, पद - 52

निर्गुण विचारधारा का दूसरा मुख्य तत्व है कि यद्यपि उस निर्गुण ब्रह्म तक दर्शन की शास्त्र रूप में पहुँच नहीं, फिर भी उसका साक्षात्कार सम्भव है । वह निर्गुण ब्रह्म अनुभूति के माध्यम से द्रष्टव्य है । साधक उस निर्गुण ब्रह्म का अपने अन्तःकरण से साक्षात्कार करता है । निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार का जब प्रश्न उठता है तो उसी से सम्बन्धित दूसरा तथ्य उभरता है कि साक्षात्कार किसके हृदय में होता है । अतः यहाँ साधक का अपरोक्ष रूप से महत्व है । जब साधक उस निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त करने हेतु साधना के क्षेत्र में अग्रसर होता है तो उस समय वह देखता है कि परमात्मा की अनंत शक्ति उसका एक गौण लक्षण है । परमेश्वर जो विश्व का कर्ता, नियन्ता, शासक और अधिपति ही नहीं व्यापक तत्व भी है, वह घर-घर में, कण-कण में अणु परमाणु में व्याप्त है, वही एकमात्र हमारे अन्दर सार वस्तु है । कबीर दास कहते हैं कि - 'कबीर का स्वामी रह्या समाई' । दादू इस तथ्य को प्रकट करते हैं कि वह व्याप्ति इतनी गहन है कि व्यापक और व्याप्त में कोई अन्तर नहीं रह जाता । अतः वास्तविकता यह है कि निर्गुण मार्ग का साधक जब उस सत्य की उपलब्धि कर लेता है तब उस व्यापक और व्याप्त में वह स्वयं ही घुल जाता है। उसका पृथक् अस्तित्व नहीं रह जाता । वह जीवन मुक्त की स्थिति प्राप्त कर लेता है । निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति हेतु पहली एवं अंतिम शर्त आत्मसमर्पण है । सम्पूर्ण रूपेण आत्मसमर्पण ब्रह्मानुभूति के लिए सबसे अधिक आवश्यक है ।

निर्गुण विचारधारा में साधना के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि कहीं किसी प्रकार की रुढ़ियों पर विश्वास न किया जाय । रुढ़ियाँ धार्मिक, शास्त्रीय अथवा सामाजिक हो सकती हैं । रुढ़ियों पर श्रद्धा रखने वाला साधक सफल नहीं हो सकता है । निर्गुण विचारधारा में प्रत्येक प्रकार की रुढ़ि एवं जर्जरित मान्यता का खण्डन किया गया है ।

निर्गुण विचारधारा में साधना के मार्ग में तीसरी बात पर बल दिया गया है वह है गुरु का महत्व । साधक को अपने मार्ग पर उचित रुप से आगे बढ़ने के लिए गुरु का सहारा लेना पड़ता है । इस विचारधारा में गुरु का स्थान कहीं-कहीं इतना बड़ा ठहराया गया है कि उस चरम लक्ष्य ब्रह्म और उसकी अनुभूति के अलौकिक आनन्द से भी गुरु को महान् कहा गया है ।

निर्गुण विचारधारा में चौथी बात यह है कि निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ईश्वर का सहारा लेना पड़ता है । बिल्कुल निराधार रहकर साधक ब्रह्म की अनुभूति को पाने के लिए किस प्रकार प्रयास कर सकता है । यहाँ यह बात असंगत प्रतीत होती है कि जो निर्गुण ब्रह्म नामातीत है, उसके लिए नाम का सहारा लिया जाय । निर्गुण ब्रह्म के विचार को ने उस नामातीत की प्राप्ति के लिए 'नामस्मरण' पर भरपूर बल दिया है। निर्गुण विचारधारा में जहाँ एक ओर आकार, रूप, रंग, रुढि, पूजा, इन सबका

तिरस्कार है, वहीं 'नाम स्मरण' को महत्व प्राप्त है ।

निर्गुण विचारधारा में नाम स्मरण के अलावा अन्य किसी भी साकार अथवा सगुण रूप पर इस विचारधारा में प्रत्यक्ष रूप से अविश्वास प्रकट किया गया है । मूर्ति पूजा एवं अवतारों का तो स्पष्ट खण्डन किया गया है ।

सगुण विचारधारा के मुख्य तत्वः-

निर्गुण विचारधारा में ब्रह्म के प्राकृत, अप्राकृत सभी गुणों को अस्वीकार कर दिया गया है । सगुण विचारधारा में ब्रह्म के अप्राकृत गुणों की स्वीकृति है । सगुण विचारधारा में ऐसी मान्यता है कि ईश्वर सत्, रज, तम से उद्भूत प्राकृत गुणों से रहित है किन्तु सत्, चित्, आनन्दोद्भूत अप्राकृत गुणों से युक्त है ।

सगुण विचारधारा का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व है - ईश्वर का ऐश्वर्य और उसकी लीला । ईश्वर के ऐश्वर्य से अभिभूत सगुण विचारधारा का साधक उसकी अखण्ड लीला में अपने को भुला देना चाहता है । उस ईश्वर की लीला का गान अनेक प्रकार से करता है फिर भी उस लीला का, उस अनन्त ऐश्वर्य का कहीं आदि अन्त नहीं प्राप्त कर पाता । सगुण विचारधारा में सगुण रूप का महत्व बताते हुए सबसे अधिक बल इसी बात

पर है । निर्गुण की उपासना बहुत कठिन है इसीलिए उपासना हेतु सगुण ईश्वर का आलम्बन भक्त के लिए अधिक कल्याणकारी है ।

सगुण विचारधारा में आत्मसमर्पण एवं दैन्य भावना पर अधिक बल दिया गया है । 'तदर्पिताखिलाचारिता'[1], सब कर्मों को भगवान के अर्पण कर देने की आवश्यकता है । जो भक्त अपने आपको तथा अपने से सम्बन्धित लौकिक एवं वैदिक सब प्रकार के कर्मों को भगवान के अर्पण कर देता है, उसी में वास्तविक समर्पण का भाव है । 'तदर्पिताखिलाचारिता' का भाव तभी सम्पूर्ण होता है जब काम-क्रोध अभिमानादि भी ईश्वर के प्रति समर्पित हों ।[2] इस अतीव समर्पण भाव की पुष्टि के लिए गोपियों का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है । कारण यह है कि ईश्वर को स्पष्ट ही अभिमान से द्वेष भाव है, दैन्य से ही प्रिय भाव है । पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण को वैष्णव आचार्यों ने अपनी शास्त्रीय विवेचना के अन्तर्गत 'प्रपत्ति' की संज्ञा से अभिभूषित किया है ।

सगुण विचारधारा में गुरु के स्थान को महत्वपूर्ण माना गया है। गुरु के आधार के फलस्वरूप ही उपासक अपने मार्ग पर उचित दिशा में अग्रसर हो सकता है । गुरु के आधार के अभाव में ब्रह्मा एवं शिव के

---

1. नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारितारितातद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ।। 19 ।।
   नारद भक्ति सूत्र, पृष्ठ - 25
2. तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ।। 65 ।।
   नारद भक्ति सूत्र, पृष्ठ - 111

सदृश होने पर भी भवनिधि का संतरण करना असम्भव है ।

सगुण विचारधारा का अंतिम तत्व ईशोपासना के अनेक मार्ग हैं। पूजा, आरती, अर्चना, सभी सगुण विचारधारा में स्वीकार्य है । उपासना का सर्वश्रेष्ठ रूप नामजप है । राम का नाम अनन्त सुखों का धाम है । नामजप इतना शक्तिशाली है कि वह भक्त को समस्त दोषों से मुक्त करके कंचनवत् बना देने में समर्थ है । नामजप सार का भी सार है ।

निर्गुण एवं सगुण विचारधारा के मुख्य तत्वों में विभेद को देखा जाय तो स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि इन दोनों विचारधाराओं में तात्विक विभेद कम है, व्यावहारिक भेद अधिक है ।

वाह्य रूप में निर्गुण विचारधारा में मूर्ति पूजा का विरोध, लीला गायन पर अविश्वास - कर्मकाण्ड की निरर्थकता पर अधिक बल दिया जाता है । दूसरी ओर सगुण विचारधारा में मूर्ति पूजा, लीलागायन - कर्मकाण्डों पर अधिक बल दिया गया है ।

सगुण साहित्य में व्यक्त मूल सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण:-

आचार्य शुक्ल व द्विवेदी जी के बाद भक्ति आन्दोलन के सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचार मुक्ति बोध है । उन्होंने 'वर्ग संघर्ष' की

अवधारणा के आधार पर भक्ति आन्दोलन की सर्वथा नवीन व्याख्या की ।

उत्तर भारत का भक्ति आन्दोलन केवल निर्गुण-निराकार और सगुण साकार की उपासना के विवाद का ही आन्दोलन नहीं था, वरन् यह दो विरोधी सामाजिक - सांस्कृतिक शक्तियों का भी संघर्ष है । ये दो शक्तियाँ उस युग की दो वर्गीय शक्तियाँ हैं, जिनमें एक का सम्बन्ध सामन्ती आभिजात्य वर्ग से तथा दूसरी का सम्बन्ध शोषित उत्पीड़ित तथा वंचित लोगों के वर्ग से है । इस द्वन्द्व में सगुण विचारधारा (विशेषतः तुलसीदास) ने सामन्ती आभिजात्य वर्ग का प्रतिनिधित्व किया और निर्गुण विचारधारा (विशेषतः-कबीर) ने शोषित - उत्पीड़ित वर्ग का । कालक्रम में पहले आकर निर्गुण पंथ ने सामाजिक परिवर्तन की जिस क्रान्तिकारी चेतना का सूत्रपात किया था, उसे सगुण पंथ (तुलसी) ने बाद में आकर काफी हद तक निरस्त किया। इन्हीं सच्चाईयों के सन्दर्भ में सगुण साहित्य के मूल्यांकन का प्रयास किया जायेगा ।

सगुण भक्तिधारा के अन्तर्गत कृष्ण भक्ति एवं रामभक्ति के रूप में दो शाखायें थीं । इस भक्तिधारा का मूल श्रोत प्राचीन है, जो दक्षिण के अलवार भक्तों की वाणी में कभी अपना सबल, सशक्त रूप दिखा चुकी थी। परिस्थितिवश यह उत्तर भारत में जरा देर से प्रवाहित हुई, लेकिन जब प्रवाहित हुई तो सारे उत्तर भारत को सहज ही अपनी लपेट में बहा ले गयी । इस अवतारवादी वैष्णव भक्ति धारा में अवरोध का प्रमुख कारण है

शंकराचार्य का पूर्ण अद्वैतवाद एवं मायावाद । यह दर्शन वैष्णव भक्ति के प्रवाह में अवरोधक ही नहीं बना, वरन् इसने नाथों सिद्धों की साधना पद्धतियों, और निर्गुण निराकार की उपासना को प्रोत्साहन भी दिया । शंकराचार्य ने ब्रह्म एवं जीव को पूर्ण अद्वैत बताकर जगत् को मिथ्या सिद्ध किया और इस तथ्य के ज्ञान को ही मोक्ष का साधन बताया था । वैष्णव भक्ति के सभी आचार्यों ने शंकराचार्य की उक्त मान्यता का खण्डन कर ब्रह्म को ज्ञान के स्थान पर भक्ति का विषय बताया । इनमें मुख्य आचार्य रामानुज, निम्बार्क, मध्व एवं वल्लभ हैं । इन आचार्यों के चिंतन मनन का प्रस्थान बिन्दु शंकर के मायावाद का खण्डन ही है, किन्तु इनकी दार्शनिक मान्यताओं में कुछ अन्तर भी है । इन सभी आचार्यों ने कर्मकाण्ड, आचार बहुल सगुणोपासना, अवतारवाद का प्रतिपादन करते हुए ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को निर्गुण निराकार की अपेक्षा सगुण साकार को अधिक महत्व प्रदान किया ।

रामानुज का दार्शनिक मत विशिष्टाद्वैतवाद है । वे जीव से ब्रह्म की विशिष्ट सत्ता स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार ब्रह्म सर्वशक्तिमान है एवं जीव अल्पशक्तिमान, ब्रह्म सर्वज्ञ एवं महान् है जबकि जीव अल्पज्ञ एवं क्षुद्र । रामानुज ने शंकर की भांति ही ब्रह्म एवं जीव की अद्वैत सत्ता को स्वीकार किया है लेकिन वे ब्रह्म को ही जीव और जगत की रचना का उपादान एवं निमित्त कारण भी मानते हैं, माया को नहीं । शंकर के विपरीत रामानुज जीव एवं जगत को ब्रह्म की ही भांति सत्य सत्ता मानते

हैं । शंकर के मायावाद का खण्डन करने वाले दूसरे वैष्णवाचार्य मध्व हैं, इनका दार्शनिक मत द्वैतवाद है । ये ब्रह्म एवं जीव में द्वैत मानते हैं । इनके अनुसार जीव की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है । ब्रह्म स्वतंत्रकर्ता है, जीव परवश अर्थात् उसके वशवर्ती है । जीव भक्ति द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है लेकिन उससे एकात्म्य स्थापित नहीं कर सकता । ईश्वर-जीव, ईश्वर जगत्, जीव-जीव सब एक दूसरे से भिन्न हैं लेकिन इनमें से कोई असत्य या मिथ्या नहीं है । इन वैष्णवाचार्यों में तीसरे आचार्य निम्बार्क हैं, इन्होंने आत्मा, परमात्मा एवं जड़ प्रकृति के रूप में तीन तत्वों की सत्ता स्वीकार किया है । इनका दार्शनिक मत द्वैताद्वैत या भेदाभेदवाद कहलाता है इनके अनुसार जीव एवं परमात्मा में भेद है और नहीं भी है । वैष्णव भक्ति परम्परा के चौथे आचार्य वल्लभ है । इनका दार्शनिक मत शुद्धाद्वैतवाद है । शंकराचार्य ने ब्रह्म के निर्गुण रूप को शुद्ध तथा श्रेष्ठ और सगुण रूप को माया युक्त बताकर अशुद्ध माना था । इसके विपरीत वल्लभाचार्य ने ब्रह्म के सगुण रूप को निर्गुण की अपेक्षा अधिक महत्व दिया है और उसे निर्विशेष, निर्लिम्त, माया सम्बन्ध विरहित और शुद्ध सिद्ध किया है। शुद्ध एवं अक्षर ब्रह्म के सत् धर्म से जगत्, चित् धर्म से जीव और आनन्द धर्म से ब्रह्म का आविर्भाव होता है । लीला पुरुषोत्तम श्री कृष्ण ही सच् चित् .आनन्द से परिपूर्ण अक्षर ब्रह्म है ।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि सभी वैष्णव दर्शनों पर वेदान्त की गहरी छाप थी । वेदान्त के क्षेत्र में सारे वैष्णवाचार्य शंकर के मायावाद एवं पूर्णद्वैत के विरोधी थे । लेकिन किसी न किसी रूप में सबको ब्रह्म की अद्वैत सत्ता स्वीकार करनी पड़ी थी । अत: भक्ति कालीन साहित्य का दार्शनिक आधार वेदांत है - ऐसा कहा जा सकता है । इस काल में केवल मध्वाचार्य का द्वैत मत ही अद्वैतवाद को पूरी तरह अस्वीकार करता है, जिसे अद्वैतवादी दर्शनों का कोपभाजन बनना पड़ा था । 'मध्व-मुख-मर्दन' एवं 'मध्व-मुखालंकार' आदि ग्रन्थों के माध्यम से इस विवाद को समझा जा सकता है । इस प्रकार के शास्त्रीय विवादों का गढ़ काशी नगरी भी रही है और निश्चित रूप से सगुणोपासक तुलसीदास ने इसे प्रत्यक्ष देखा सुना होगा । 'विनय पत्रिका' एवं 'रामचरित मानस' में इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं ।

मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन के विभिन्न दार्शनिकवाद आचार्यों की वैयक्तिक कल्पना पर आधारित न होकर सामाजिक यथार्थ की नींव पर खड़े हुए थे । इन सभी के सामाजिक निहितार्थ एवं उद्देश्य थे । यह तथ्य है कि उत्तर भारत में सगुण भक्ति आन्दोलन निर्गुण भक्ति आन्दोलन के बाद आया । इसमें प्रतिरोध की तीव्र भावना थी । इस प्रतिरोध के लिए पूर्ण अद्वैत के स्थान पर विशिष्टद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि धर्मदर्शनों का एक कारगर अस्त्र के रूप में उपयोग किया गया । इस संदर्भ में देखा जाय

तो निर्गुण एवं सगुण मत के अन्तर्गत उच्च वर्ग एवं निम्नवर्ग का सामाजिक संघर्ष भी निहित था । सिद्ध एवं नाथ सम्प्रदाय के लोग इस दिशा में पहल कर चुके थे, लेकिन जनसाधारण में वे अपना अधिक प्रभाव स्थापित नहीं कर पाये । निर्गुण भक्ति आन्दोलन का जनसाधारण पर व्यापक प्रभाव हुआ। पहली बार शूद्रों और दलितों ने अपने संत एवं महात्मा पैदा किये, अपना साहित्य लिखा कबीर, रैदास, नाथा, सेना आदि महापुरुषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरुद्ध आवाज उठायी । निर्गुण मत के संतों ने सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक अंध विश्वासों, वाह्याडम्बरों आदि का विरोध किया । इसका व्यापक प्रभाव हुआ । निम्न जातियों में आत्म विश्वास और आत्म-गौरव की भावना जागृत हुई । इस भावधारा से संघर्ष के लिए सगुण मत खड़ा हुआ, जो निश्चित रूप से उच्चवंशीय संस्कारशील अभिरुचियों का आन्दोलन था । इसी संदर्भ में मुक्तिबोध कहते हैं - "निर्गुण मत के विरुद्ध सगुण मत का संघर्ष निम्न वर्गों के विरुद्ध उच्चवंशीय संस्कारशील अभिरुचियों का संघर्ष था ।"[1] उत्तर भारत की कृष्ण भक्ति शाखा के अधिकांश कवि उच्च जाति के थे और निर्गुण मतावलम्बियों से उनका सीधा संघर्ष भी था किन्तु हिन्दू समाज के मूलाधार वर्णाश्रम धर्म के विरोधियों के जातिवाद विरोधी विचारों पर उन्होंने अधिक प्रहार नहीं किये । कृष्ण भक्ति द्वारा

---

1. मुक्ति बोध रचनावली, खण्ड-5, सं0 नेमिचन्द जैन, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ - 29।

सगुण भक्ति मार्ग में पौराणिक कथाओं का प्रवेश हुआ । आगे चलकर तुलसीदास ने इन्हीं कथाओं का सहारा लेकर वर्णाश्रम धर्म के पुनर्विजय की घोषणा की ।

धार्मिक क्षेत्र में तुलसीदास की कीर्ति का आधार विशिष्टाद्वैतवाद है । यह केवल धर्म दर्शन ही नहीं, समाज दर्शन भी है । इसके द्वारा समाज व्यवस्था में ऊँच-नीच, ब्राह्मण-शूद्र, स्वामी-सेवक आदि की भावना को बल मिला ।

तुलसीदास के समय धर्म समाज को जोड़ने की अपेक्षा उसे तोड़ने में अधिक सक्रिय था । नाथो-सिद्धों के आन्दोलन और निर्गुण संतों की 'बानियों' ने इस अग्नि में घी का काम किया । इस्लामी शासन से पूर्व की जाति-पॉति की जकड़न और परम्परागत सामाजिक आचारों-विचारों पर नाथो सिद्धों ने गहरा आघात किया था । निर्गुण मतावलम्बी संतों ने भी इस सामाजिक विषमता पर गहरा आक्रोश प्रकट किया । इस आन्दोलन से बहुत पहले दक्षिण के आलवार भक्तों में भी पुराणपन्थी जातिवाद की प्रतिक्रिया का स्वर सुनाई पड़ता है । कारण यह था कि इसमें भी बहुत से अछूत वर्ग के थे । इस परम्परा में आने वाले रामानुजाचार्य एवं रामानन्द उच्चवर्ण में उत्पन्न हुए थे किन्तु दक्षिण के भक्ति-साहित्य को उन्होंने पूज्य ग्रन्थों का सा सम्मान दिया । वैसे इन्होंने सभी वैष्णवों की धार्मिक समानता पर बल दिया, किन्तु

सामाजिक व्यवहार में जाति भेद की भावना ज्यों की त्यों बनी हुई थी । इन्होंने हिन्दू समाज के मूलाधार वर्ण व्यवस्था पर कभी चोट नहीं की । इसके विपरीत विशिष्टाद्वैत मत के माध्यम से समाज में विशिष्ट-अविशिष्ट, स्वामी सेवक की भावना को परोक्ष रुप से समाज के लिए लाभकारी सिद्ध किया गया।

भारतीय समाज पर इस्लामी आक्रमण के प्रतिकिया स्वरूप जाति-पाति के बन्धन को तोड़ने वाले धर्म सम्प्रदाय के सम्पर्क में आने पर हिन्दू जाति व्यवस्था और अधिक संकीर्ण एवं कठोर हो गयी । जातिगत उच्चता और निम्नता की दूरी बढ़ती चली गयी । सिद्धनाथ, योगी, अपने समाज विरोधी आचरण के कारण हिन्दू समाज से बहिष्कृत हो चुके थे । कबीर, नामदेव आदि संतों ने 'ना हिन्दू ना तुरुक' का उपदेश अवश्य दिया, लेकिन गृहस्थ के लिए इनमें से एक होना आवश्यक था । उच्चवंशीय हिन्दू विचारकों और सुधारकों के लिए यह घोर संकट की स्थिति थी । उन्हें एक ओर विदेशी धर्म समाज से टक्कर लेनी पड़ी तो दूसरी ओर आन्तरिक आन्दोलनकारी सामाजिक शक्तियों से संघर्ष करना पड़ा ।

तुलसीदास के पूर्व रामानुज, रामानन्द आदि ने वर्ण व्यवस्था और ऊँच-नीच की मर्यादा को स्वीकार करते हुए उसकी कठोरता को कुछ शिथिल

अवश्य किया लेकिन वर्ण व्यवस्था की कठोरता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। निर्गुण एवं सगुण उपासना के मध्य एक तथ्य आसानी से देखा जा सकता है कि प्रथम के आचार्य एवं अनुयायी अधिकांशतः शूद्र एवं उपेक्षित जाति के लोग थे तथा द्वितीय के अधिकांशतः सवर्ण एवं ब्राह्मण जाति के थे। आचार्य निष्ठ कर्मकाण्डीय सगुण भक्ति पुरानी समाज व्यवस्था के मूलाधार जातिवाद की रक्षा में परोक्ष रूप से सहायक थी लेकिन निर्गुण भक्ति ने उस व्यवस्था को पूरी तरह से झकझोर दिया था।

उत्तर भारत का भक्ति आन्दोलन निर्गुण निराकार एवं सगुण साकार की उपासना के विवाद का ही आन्दोलन नहीं था बल्कि यह दो विरोधी सामाजिक सांस्कृतिक शक्तियों का भी संघर्ष था। हिन्दू मुसलमान दो भिन्न धार्मिक साम्प्रदायिक समाजों के सम्मिलन ने इस संक्रान्ति जनित संघर्ष को एक भिन्न दिशा प्रदान की थी - धार्मिक सांस्कृतिक संघर्ष का रूप देकर। लेकिन निर्गुण मत (मुख्यतः कबीर) एवं सगुण मत (मुख्यतः तुलसी) के मूल मानवीय आग्रहों अनुरोधों को ध्यान में रखकर विचार किया जाय तो इस युग का मूल द्वन्द्व दो परस्पर विरोधी मानवीय-सामाजिक हितों का द्वन्द्व ही रहा है। वस्तुतः कबीर और तुलसी का साहित्य इतिहास की एक ही सामाजिक सांस्कृतिक प्रक्रिया का अंग होते हुए भी दो विरोधरत् सामाजिक-ऐतिहासिक शक्तियों की देन है। इस अन्तर्विरोध को समाजशास्त्रीय दृष्टि से समझे बिना न तुलसी युगीन समाज को समझा जा सकता है, और

न ही उनके साहित्य का मूल्यांकन किया जा सकता है ।

वर्णाश्रमः-

तुलसी का सामाजिक आदर्श वर्णाश्रम की सामाजिक-सांस्कृतिक मान्यता पर आधारित था । इसे तुलसी ने शास्त्र और पुराणों के आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया । तुलसीदास मध्यकाल की अराजक स्थिति से असन्तुष्ट हैं - टूटती वर्ण व्यवस्था, ब्राह्मणों का अनादर, धर्म सम्प्रदाय की आपसी टकराहट, लड़खड़ाते सामाजिक सम्बन्ध, मर्यादाओं का निषेध । कुल मिलाकर तुलसी के सामने जो समाज है वह काफी विकृत है, और उसके प्रति अपना क्षोभ व्यक्त करते हैं । तुलसीदास के अनुसार समाज में घोर अव्यवस्था, अन्याय, अशान्ति, संघर्ष, अनाचार का मूल कारण वर्णाश्रम धर्म का ह्रास था ।

भारतीय वर्ण व्यवस्था मध्यकालीन सामन्ती समाज की प्रमुख शक्ति रही है । अपने प्रारम्भिक समय में वर्ण व्यवस्था कार्य विभाजन पर आधारित थी जिसके अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार विभाग थे । ब्राहमण, पूजा-पाठ और अध्ययन अध्यापन का कार्य करते थे । क्षत्रिय शासक एवं योद्धा थे, वैश्य व्यापार का कार्य करते थे तथा शूद्र कृषक, सेवक एवं श्रमिक होते थे । वर्ण के उद्भव के सम्बन्ध में प्रो0 एम0एन0 श्रीनिवास ने लिखा है - "ऋग्वेद में वर्ण शब्द का प्रयोग किसी वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि)

के लिए कभी नहीं हुआ । वहाँ केवल आर्य वर्ण या आर्यजन का दास वर्ण से अन्तर स्पष्ट किया गया है । .... शतपथ ब्राह्मण में चार वर्णों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है । ऋग्वेद में जो आर्य और दास के बीच अन्तर मिलता है, वही बाद में आर्य और शूद्र में माना जाने लगा ।"[1] प्रो0 एम0एन0 श्रीनिवास ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि ऋग्वेद में आर्य और दास के बीच अन्तर के साथ समाज को तीन क्रमों में विभाजित भी किया गया है । ये क्रम हैं - ब्राह्मण, क्षत्रिय और विश - "इनमें प्रथम दो मुख्यतः दो व्यवसायों का प्रतिनिधित्व करते हैं एक कवि-पुजारी तथा दूसरा योद्धा प्रमुख । तीसरा वर्ग सारी सामान्य जनता का समूह है । उसके एक प्रसिद्ध पुरुष सूक्त में जो एक परवर्ती श्रोत है, से आदि पुरुष के बलिदान से समाज के चार क्रमों के उद्‌भव का संदर्भ मिलता है । उन चार क्रमों के नाम दिये गये हैं - ब्राह्मण, राजन्य (क्षत्रिय), वैश्य एवं शूद्र, जो क्रमशः जगत के सृष्टा के मुख, भुजा, जंघा एवं पैरों से उत्पन्न माने गये हैं ।"[2] वस्तुतः यह विभाजन काफी परवर्ती है, जिसमें प्रतिष्ठा और बड़े-छोटे की भावना भी उसके साथ मिल गई है । ब्राह्मण ग्रन्थों महाभारत एवं मनुस्मृति के

---

1. प्रो0 एम0एन0 श्रीनिवासः "आधुनिक भारत में जातिवाद तथा अन्य निबंध" से उद्धृत, पृष्ठ - 67-68
2. प्रो0 एम0एन0 श्रीनिवास : "आधुनिक भारत में जातिवाद तथा अन्य निबंध से उद्धृत, पृष्ठ - 68

रचनाकाल तक चार वर्णों की धारणा अपने सोपान क्रम में दृढ़ एवं संकुचित होती गई । बौद्ध एवं जैन धर्मों का उदय इस व्यवस्था की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ ।

मध्यकालीन भारतीय समाज की सबसे दृढ़ ईकाई गाँव थी । वर्ण व्यवस्था के साथ ही सामन्ती व्यवस्था को भी संरक्षण यहीं से मिलता था। एक स्वतः पूर्ण ईकाई के रूप में गाँव की पंचायत सामन्तों के माध्यम से सम्राट के शासन को लागू करने के साथ ही भूमि की व्यवस्था एवं करों का नियमन करती थी । वहीं सेवक सेव्य भाव पर आधारित वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुरूप लोक मर्यादा तथा वेद मर्यादा का पालन करवाती थी । यह ग्राम ईकाई भूमि व्यवस्था पर आधारित मध्यकालीन सामन्ती समाज की इतनी दृढ़ ईकाई थी कि इस्लामी आक्रमण की चुनौती को भी इसने आसानी से झेल लिया । डा० रमेश कुन्तल मेघ ने लिखा है कि - "दसवीं शती में मुसलमान अपनी नई संस्कृति, नया धर्म, नई जीवन पद्धति लेकर आये और उन्होंने एक नई क्रान्ति उपस्थित कर दी । शुरू में तो उन्होंने सामन्ती व्यवस्था का ढाँचा ही लड़खड़ा दिया, लेकिन कालान्तर में वे भी सूदखोर, शोषक सामन्त और बड़े जमींदार हो गये । उनकी चुनौती वर्णाश्रम व्यवस्था को थी ।"[1] शासक - शोषक सामन्त और जमींदार बनने के बाद मुसलमान

---

1. रमेश कुंतल मेघ - 'तुलसी - आधुनिकवातायन से' पृष्ठ-9

भी काजी-मुल्लाओं के गिरफ्त में आ गये । प्रशासन की दृष्टि से ग्राम-ईकाई पर उनका प्रभाव नगण्य रहा । आगे चलकर साधारण मुसलमान भी बुनकर, चुड़िहारा, धुनिया, मोची, दर्जी आदि के रूप में ग्राम ईकाई के अभिन्न अंग बन गये । एक भिन्न धर्म सम्प्रदाय से सम्बन्धित होने के कारण ग्रामीण वर्ण व्यवस्था ने उन्हें अधिकांशतः शूद्रों की स्थिति में डाल दिया । फिर भी उनके ऊपर काजी मुल्लाओं का प्रभाव रहा ।

पूरे मुस्लिम शासन को मुस्लिम मध्यकाल की संज्ञा देते हुए डा0 रमेश कुन्तल मेघ ने इसकी कुछ निजी विशेषताओं की ओर संकेत करते हुए लिखा है - "हिन्दू सामान्त युग में न तो लोक भाषाओं ने साहित्यिक अस्तित्व प्राप्त किया था और न ही व्यापार का इतना व्यापक अन्तर्राष्ट्रीयकरण हुआ था । उस युग में धर्म राजशक्ति से संलग्न था, और मुस्लिम युग की तरह वह जनजीवन के आन्दोलन के रूप में नहीं प्रवाहित हो रहा था इसलिए मुस्लिम मध्यकाल शुरू में कई अर्थों में व्यापक प्रजातांत्रिक चेतना तथा सांस्कृतिक अन्तरवलंबन का प्रसार करता है ।"[1] इस मध्यकाल के आरम्भिक छोर पर कबीर तथा लगभग मध्य में तुलसी आते हैं ।

कबीरदास ने अपने समय में ग्राम्य जीवन की सबसे बड़ी विकृति

---

1. रमेश कुन्तल मेघः तुलसी-आधुनिक वातायन से, पृष्ठ-4

के रूप में वर्ण व्यवस्था को देखा । शास्त्र पुराण और धार्मिक कर्मकाण्डों के माध्यम से ब्राह्मण समुदाय के पण्डे पुरोहित ही इस वर्णव्यवस्था के रक्षक बने हुए थे । वर्णाश्रम एवं शास्त्र सम्मत सारी मर्यादाओं की खुलेआम निन्दा करते हुए कबीर ने हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिए भक्ति का नया मार्ग प्रस्तुत किया । कबीर का यह मार्ग निर्गुण निराकार की उपासना का था।

कबीर के विपरीत सगुण मतवादी तुलसीदास वर्णाश्रम व्यवस्था के कट्टर समर्थक थे । कबीर एवं उनके निर्गुण पंथ से वर्ण व्यवस्था को जो क्षति पहुँची थी उससे तिलमिला कर तुलसी ने लिखा -

साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान ।

भगति निरूपहि भगत कलि निन्दहिं वेद पुरान ।।[1]

× × × × ×

बदहिं सूद्र द्विजन सन हम तुम्हते कहु घाटि

जानहिं ब्रह्म ने विप्त बर आँख देखावहिं डाँटि ।।[2]

स्पष्ट है, यही तुलसीदास की वर्णाश्रमवादी नैतिक दृष्टि है, जो ब्रह्म ज्ञान एवं भक्ति को केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित रखना चाहती है । 'रामचरित मानस' के उत्तरकाण्ड में कलियुग का वर्णन करते हुए तुलसीदास ने अपनी

---

1. दोहावली पृष्ठ - 190/554

2. वही, पृष्ठ - 190/553

वर्णाश्रमवादी मान्यता को स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है -

सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं जाना ।

मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना ।।

× × × ×

जे बरनाधम तेलि कुम्हारा ।

स्वपच किरात कोल कलवारा ।।

नारि मुई घर संपतिनासी ।

मूड़ मुड़ाइ भये सन्यासी ।।

ते बिप्रन्ह सन आपु पुजावहिं ।

उभयलोक निज हाथ नसावहिं ।।

सूद्र करहिं जप-तप-ब्रत नाना ।

बैठि बरासन कहहिं पुराना ।।[1]

इससे स्पष्ट है कि तुलसी के समय तक वर्णाक्रम की प्रतिष्ठा को काफी आघात पहुँचा था । इसकी प्रतिष्ठा को कायम करने के लिए उन्होंने 'रामचरित-मानस' के साथ ही 'कवितावली', 'नियपत्रिका', 'दोहावली' आदि रचनाओं में बहुत प्रयास किया। कवितावली में तुलसी ने वर्णाश्रम धर्म के ह्रास को ही कलि की करालता का कारण माना है -

---

1. रामचरित मानस (उत्तरकाण्ड), पृष्ठ-582/पद संख्या-100

बरन धरम गयो, आश्रम निवास तज्यों,

त्रासन चकित सो परावनो परा सो है ।

करमु उपासना कुबासना बिनास्यो ग्यानु,

बचन विराग-वेष जगतु हरो सो है ।।

गोरख जगायो जोगु, भगति भगायो लोगु,

निगम नियोग तें सो केलि ही छरो सो है ।।[1]

स्पष्ट है कि तुलसी कहना चाह रहे हैं कि वर्णाश्रम धर्म के लोप से सारे समाज में आपाधापी मची हुई है । कर्म एवं उपासना में बुरी भावना के प्रवेश से ज्ञान नष्ट हो गया है । निकृष्ट साधना पद्धति के समावेश से सच्ची भावना समाप्त हो गई है । स्पष्ट है कि तुलसीदास ने अपनी वर्णाश्रमवादी दृष्टि के दायरे में ही समाज के उत्थान पतन की कल्पना की है । तुलसीदास को वर्ण व्यवस्था के टूटने का बहुत दुख है : 'बरन धरम नहिं आश्रम चारी' (मानसः उत्तरकाण्ड 98/1) तुलसी "पूजिअ विप्र सकल गुण हीना, शूद्र न गुणगण ज्ञान प्रवीणा" कहकर विरोधियों को अवसर देते हैं कि उन्हें गैर प्रगतिशील घोषित किया जाय । मुनि वशिष्ठ के माध्यम से वे वर्णों के कर्म विभाजन का आग्रह करते हुए कहते हैं कि ऐसा न करने पर वर्ण व्यवस्था टूट जाती है -

---

1. कवितावली (उत्तरकाण्ड), पृष्ठ - 205/पद संख्या-84

गोढ़ गंवार नृपाल महि, जमन महामहिपाल

साम न दाम न भेद कलि, केवल दण्ड कराल[1]

तत्कालीन सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था के सम्बन्ध में तुलसी ने पाखण्ड एवं पाप में लीन पतित प्रजा के साथ ही राज समाज को फटकारा अवश्य है, लेकिन सामन्ती दृष्टिकोण के अनुशासन में रहकर ही । उनके समय में महामहिपाल के रूप में मुगल सम्राट अकबर और जहाँगीर थे । तथाकथित निम्नजातियों ने ही सामाजिक धार्मिक क्षेत्रों के साथ ही राजनीति के क्षेत्र में भी उच्चवर्ग की सामन्ती सत्ता को ठोस चुनौती दी थी । गोंडवाना (मध्यप्रदेश) में गोंड राजा का आधिपत्य इसका स्पष्ट प्रमाण है । वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक तुलसी को यह बुरा लगा था कि शूद्र या नीची जाति का कोई राजा बने । 'कवितावली' में उन्होंने लिखा भी है -

वेद धर्म दूरि गए, भूमिचोर भूप भाए ।

साधु सीधमान जान, रीति पाप पीन की ।।[2]

स्पष्ट है कि तुलसी का वेद धर्म वर्णाश्रम ही है । तुलसीदास अपने युग की समाज व्यवस्था का विश्लेषण करते हुए मानसिक दुर्दशा को कुलीन शोषक-शासक वर्ग की दृष्टि से ही देख पाते हैं, निम्न और शासित वर्ग की दृष्टि से नहीं । इनके विपरीत कबीरदास सामाजिक दुर्दशा का कारण

---

1. दोहावली-तुलसीदास, पृष्ठ-191/पद संख्या 559

2. कवितावली (उत्तर काण्ड), पृष्ठ-281/पद संख्या 177

वर्णाश्रम धर्म पर आधारित ऊँच-नीच की भावना को मानते हैं । तुलसीदास के पास सभी सामाजिक समस्याओं का समाधान है - शास्त्रमतवादी पौराणिकता पर आधारित वर्णाश्रम धर्म की स्थापना । वर्णाश्रम धर्म के पालन को ही वे लोक और वेद की मर्यादा मानते हैं । इस प्रकार तत्कालीन समाज की सामन्तवादी चेतना ही उनके काव्य में मनोवैज्ञानिक स्तर पर व्यक्त हुई है । यह चेतना ही तुलसी की वास्तविक मनोभूमि है जो अन्ततः उनकी वर्गीय मनोभूमि भी है ।

तुलसी की मूल विचारधारा वर्णाश्रम धर्म की पोषिका है जो इस देश की सामन्ती व्यवस्था का मूलाधार है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तुलसी के इसी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं - "...... निर्गुण धारा के संतों की वाणी में किस प्रकार लोक धर्म की अवहेलना छिपी हुई थी । सगुण धारा के भारतीय पद्धति के भक्तों में कबीर, दादू आदि के लोकधर्म विरोधी स्वरूप को यदि किसी ने पहचाना तो गोस्वामी जी ने ।"[1] स्पष्ट है तुलसी का वर्णाश्रम धर्म ही लोकधर्म है ।

स्त्री प्रश्नः-

नारी के सम्बन्ध में तुलसी का दृष्टिकोण सामन्तवाद का ही

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ - 75-76 (नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, संवत् 2051 वि0)

पोषक है । वर्णाश्रम व्यवस्था में शूद्र की स्थिति निम्न कोटि की है । तुलसी ने नारी को भी शूद्र वर्ग में ही रखा है - "ढोल गँवार सूद्र पशु नारी । ये सब ताड़न के अधिकारी ।"[1] नारी के प्रति तुलसी की दृष्टि अनुदार रही है । आदर्श पत्नी के रूप में तुलसी उसका एकमात्र धर्म पति से प्रेम मानते हैं - 'एकै धर्म एक ब्रत नेमा । काय बचन मन पति पद प्रेमा ।' आगे कहते हैं -

वृद्ध रोग बस जड़ धन हीना । अंध बधिर क्रोधी अति दीना ।

ऐसेहु पति कर किये अपमाना । नारि पाव जमपुर दुख नाना ।।

यानि तुलसी की दृष्टि में वृद्ध, रोगी, मूर्ख, धन हीन, अन्धा, बहरा, क्रोधी, अत्यन्त दीन पति का भी सम्मान करना स्त्री का धर्म है । यही तुलसी की आदर्श समाज व्यवस्था है । यही तुलसी का लोकधर्म है । घर की चहारदीवारी से बाहर निकलकर उसका स्वतंत्र विचरण तुलसी कीक दृष्टि में शुभ नहीं है - 'जिमि स्वतन्त्र होई बिगरहिंनारी' ।

नारी धर्म सम्बन्धी तुलसी की वही मान्यता है जो ऋषि पत्नी अनुसूया ने सीता से उपदेश के रूप में कहा था । वस्तुतः भारत का यही

---

1. मानस : सुन्दरकाण्ड पृष्ठ-444/पद - 59

परम्परागत पातिव्रत धर्म है, जिसकी अवहेलना से स्त्री को इस लोक और परलोक - दोनों में घोर यातना भोगनी पड़ती है -

बिनु श्रम नारि परमगति लहई । पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई ।
पति प्रकूिल जनम जहँ जाई । बिधवा होइ पाइ तरुनाई ।।
सहज अपावनि नारि, पति सेवत सुभ गति लहइ ।
जसु गावत श्रुति चारि, अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय ।।

स्पष्ट है कि तुलसीदास ने पुरुष की अपेक्षा स्त्री का अधिकार क्षेत्र अत्यन्त सीमित माना है । स्त्री को पुरुष की अपेक्षा निर्बल चरित्र का मानकर बार-बार उपदेश भी देते रहते हैं । शूपर्णखा - प्रसंग में नारी की कमजोरियों की ओर संकेत करते हुए लिखा है -

भ्राता पिता पुत्र उरगारी । पुरुष मनोहर निरखत नारी ।
होइ बिकल सकि मनहि न रोकी । जिमि रबि मनि द्रव रबहि बिलोकी।।

यहाँ तुलसी ने स्त्री चरित्र की निर्बलता का अतिरंजित और अमर्यादित चित्रण किया है । तुलसी की स्त्री विषयक मान्यता का सारांश प्रस्तुत करते हुए डा0 उदयभानु सिंह ने लिखा है - "इसमें संदेह नहीं कि तुलसी ने पुरुष की सच्चरित्रा की अपेक्षा नारी की सच्चरित्रता पर अधिक बल दिया है। इसके दो कारण है, तब भी थे अब भी हैं । एक यह कि पुरुष का चरित्र दोष उतना संक्रामक नहीं है जितना कि नारी का । दूसरा यह कि जिस गलती के कारण पुरुष का कुछ नहीं बिगड़ता उसी के कारण नारी पर कलंक

का अमिट टीका लगा दिया जाता है । बिना अपराध के, अग्नि परीक्षा के बाद भी सीता को धर्म धुरन्धर राम के हाथों निर्वासित होना पड़ा था।"[1] अनेक स्थलों पर तुलसी ने नारी के सम्बन्ध में अपनी अनुदार दृष्टि का परिचय दिया है -

बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी ।

सकल कपट अध अवगुन खानी ।।

× × ×

अधम ते अधम जाति अति नारी

तिन महँ मैं मतिमंद गँवारी

कहने के लिए ये पात्रों की उक्तियाँ मात्र है, किन्तु नारी के सम्बन्ध में ये तुलसी की अपनी मान्यतायें प्रतीत होती हैं । भक्ति की दृष्टि से भी तुलसी ने नारी को सर्वथा निन्दनीय और त्याज्य बताया -

अबला कच भूषन भूरि छुधा । धनहीन दुखी ममता बहुधा ।

सुख चाहहि मूढ़ न धर्मरता । मति थोरि कठोरि न कोमलता ।।[2]

स्वयं तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम भी नारी की निन्दा करते नहीं थकते । नारद के यह पूछने पर कि आपने मुझे विवाह क्यों नहीं करने दिया -

---

1. तुलसी काव्य मीमांसा : डा0 उदयभानु सिंह, पृष्ठ - 341-42

2. मानस : उत्तरकाण्ड दोहा - 102

राम अपने उत्तर में नारी की निन्दा करते हुए कहते हैं कि नारी मोह रुपी वन के लिए बसन्त है, जप, तप, नियम रुपी सरोवर को सोखने के लिए ग्रीष्म ऋतु है, पाप रुपी उलूक के लिए अंधेरी रात्रि है, बुद्धि, बल, शील, सत्य आदि रुपी मछलियों को फँसाने वाली वंशी के समान है । यही नहीं वे आगे कहते हैं -

'अवगुन मूल सूल प्रद प्रमदा सब दुख खानि ।
ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि ।।

इस प्रकार विश्लेषण के आधार पर निःसंदेह रूप से कहा जा सकता है कि तुलसी नारी के प्रति अपेक्षित उदारता का प्रदर्शन नहीं कर सके । कृष्ण - काव्य धारा में राम काव्य की अपेक्षा स्त्री प्रश्न पर कवियो का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक उदार एवं आधुनिक है । सूर सहित कृष्ण काव्यधारा के सभी प्रमुख कवियों की गोपियाँ कृष्ण के साथ निर्बंध प्रेम करती हैं तथा कृष्ण के प्रेम का पात्र बनती है । स्वच्छंद प्रेम सामंती नैतिक मर्यादाओं व मूल्यों के लिए एक प्रतिरोधी मूल्य था, जिसकी स्थापना कृष्ण काव्यधारा में की गयी है । प्रेम में 'लोक वेद कुल की मरजादा' गले मे फाँसी की तरह है । इसीलिए सभी कृष्णाश्रयी कवियों ने 'मर्यादाओं' के इस कठोर नैतिक अनुशासन को प्रेम-पाश में तोड़ दिया । इस प्रकार रामाश्रयी काव्य की अपेक्षा कृष्णाश्रयी धारा का काव्य अधिक उदार व आधुनिक चेतना का है ।

सामाजिक - धार्मिक पाखण्ड एवं अंधविश्वास:-

भक्ति कालीन जन जीवन कई सामाजिक धार्मिक पाखण्डों एव अंध विश्वासों से ग्रस्त था । पूरा समाज साम्प्रदायिक विद्वेष एवं जातीय भेदभाव की गहरी खाईं से विभाजित था । इसमें सर्वाधिक कष्ट साधारण जनता को ही था । इससे मुक्ति के लिए निर्गुण मतावलम्बियों ने साम्प्रदायिक एकता एवं जातीय समानता की स्थापना की । कबीर ने धार्मिक कर्मकाण्डों, मूर्तिपूजा, तीर्थ स्नान, आदि की निरर्थकता को उजागर करते हुए सभी प्रकार के धामिक पाखण्डों का पर्दाफाश किया ।

निर्गुण मत के विपरीत सगुण मतावलम्बी तुलसी वेद, पुराण, शास्त्रों को सामाजिक मर्यादा की रक्षा के लिए आवश्यक मानते थे । बहुदेवोपासना का स्थान - स्थान पर विरोध करने के बावजूद उन्होंने देवी-देवताओं की निष्ठापूर्वक आराधना की । हिन्दू शास्त्रों - पुराणों की मान्यताओं पर उन्होंने कभी भी संदेह प्रकट नहीं किया । तुलसी वर्णाश्रम धर्म के समर्थक रहे हैं । इस दृष्टि से उन्हों पुनरुत्थानवादी ही कहा जा सकता है । तुलसी की रचनाओं के माध्यम से इन तथ्यों की पुष्टि की जा सकती है । तुलसी के राम, कबीर के राम से भिन्न हैं । निर्गुण निराकार राम का सहारा लेकर कबीर ने ब्राह्मण के रूप में पण्डों-पुरोहितों और उनके द्वारा अपनाये गये सामाजिक धार्मिक कर्मकाण्डों को ही सभी अनर्थों की जड़ माना लेकिन तुलसी के सगुण राम के अवतार का उद्देश्य है -

भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर-हित लागि कृपालु ।

करत चरित धरि मनुज तन सुनत मिटहिं जग जाल ।।[1]

राम भक्त, ब्राह्मण, गायो, देवताओं के कल्याण के लिए जन्म लेते हैं । तुलसी ने रामावतार के इस उद्देश्य को बार-बार प्रस्तुत किया है -

बिप्त धेनु सुर संत हित लीन्ह मनु अवतार ।

निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार ।।[2]

इस राम के माध्यम से तुलसी ने उन अधिकांश शास्त्र-पुराणवादी मान्यताओं की पुनः स्थापना की जिसके विरुद्ध कबीर ने निर्गुण पंथ के माध्यम से संघर्ष छेड़ा था । तुलसी एवं कबीर के उद्देश्यों की दिशा ही नहीं उनके परिणाम में भी अन्तर है । इस परिणाम की ओर संकेत करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है - "राम भक्ति शाखा की सगुण भक्ति के माध्यम से समाज के शासक वर्ग ने न केवल वेद शास्त्र सम्मत परम्परागत सामाजिक ढाँचे को बरकरार रखना चाहा बल्कि जाति विरोधी, सामन्त विरोधी निर्गुण पन्थ पर सबसे बड़ी चोट की । इस प्रकार भक्ति का आन्दोलन जिस पर प्रारम्भ में निम्न जातियों का सर्वाधिक जोर था, उसपर अब उच्च वर्गों का आधिपत्य हो गया । समाज के शासक वर्ग का स्वप्न पूरा हुआ ।"[3]

---

1. दोहावली पृष्ठ - 48/पद सं0 - 132
2. रामचरित मानस, पृष्ठ - 116/पद सं0 - 192
3. अरुण प्रकाश मिश्रः 'तुलसी का मानवतावाद', पृष्ठ-74-75 से उद्धृत ।

तुलसी ने धार्मिक सामाजिक कर्मकाण्डो का कहीं भी खण्डन या मण्डन नहीं किया लेकिन लोक वेद की मर्यादा और शास्त्र सम्मत पौराणिक मान्यताओं की दुहाई दे देकर परोक्ष रुप से इसे बढ़ावा दिया । शास्त्र, पुराण, स्मृतियों के रूप में जिन कर्मकाण्डी ठोस आधारों को कबीर ध्वस्त करना चाहते थे उन्हें तुलसीदास ने अत्यन्त प्रतिभाशाली ढंग से पुनः पुष्ट किया।

रामचरित मानस में तुलसी का अंतिम उद्देश्य लोक कल्याण रहा है । इस लोक कल्याण की पूर्ति के लिए उन्होंने लोकरीति या सामाजिक आचार-विचार की प्रतिष्ठा को आवश्यक माना । लोक के साथ वेद या श्रुति सम्मत मार्ग का उल्लेख कर तुलसी ने सामाजिक आचार-विचार के सम्बन्ध में अपनी वर्णाश्रम धर्मवादी वर्गीय दृष्टि का परिचय दिया है । तुलसी के राम जिस धर्म की स्थापना करते हैं वह लोक और वेद मत की स्थापना है । वेद मत यानि शास्त्रोक्त धर्म के साथ लोकमत को स्थान देकर तुलसी ने धर्म का समाजीकरण किया है । तुलसी का समाज एवं धर्म दोनों ही वर्णाश्रम व्यवस्था की पौराणिक मान्यता पर आधारित है । वेद धर्म या श्रुतिमार्ग से तुलसी का अभिप्राय शास्त्रोक्त धर्म से है । वेद एवं वैदिक से तुलसी का तात्पर्य उन्हीं के शब्दों में -

"बिप्र एक वैदिक सिव पूजा, करइ सदा तेहि काजु न दूजा ।।"

यानि वैदिक रूप से शिव पूजा का अभिप्राय है लोक एवं शास्त्र की मर्यादा के अनुसार पूजा करना । यहाँ प्रतीत होता है कि तुलसीदास वैदिक मार्ग

से शास्त्र सम्मत लोक रीति का अर्थ लेते हैं । शास्त्र सम्मत लोक रीति निश्चित रूप से सम्पन्न वर्ग द्वारा स्वीकृति लोक रीति है । लोक मार्ग की भाँति भक्ति भी तुलसी के लिए श्रुति मार्ग है - "श्रुति सिद्धान्त इहइ उरगारी । राम भजिय सब काज बिसारी" धर्म की रक्षा में तुलसी के राम का कार्यक्षेत्र व्यापक हो जाता है । राम भक्ति को उन्होंने श्रुति सिद्धान्त अर्थात् वेदों का सिद्धान्त घोषित किया है । वास्तविकता यह है कि वेदों में न तुलसी के राम है और न उनकी भक्ति ही । फिर भी वे लोकमत के साथ वेदमत की निरन्तर दुहाई देते चलते हैं । वेद मत से तुलसी का अभिप्राय शास्त्र सम्मत लोक रीति ही है ।

अवतारवाद:-

ईश्वर के अवतार की अवधारणा गीता, महाभारत आदि ग्रन्थों में मिलती है । एक व्यक्ति और पुरुषोत्तम के रूप में राम का उल्लेख काफी प्राचीन है । आलवार भक्तों ने कृष्ण को सर्वाधिक महत्व देते हुए भी सभी अवतारों के साथ ही राम के प्रति भी श्रद्धाभाव व्यक्त किया है। इस परम्परा के लगभग अन्तिम संत कुलशेखर आलवार ने नवीं शती के मध्य में राम भक्ति का अत्यन्त प्रौढ़ निरूपण किया । बाद में आचार्य रामानुज ने राम भक्ति को शास्त्रीय आधार देकर पूरी तरह प्रतिष्ठित किया । रामानुज की ही शिष्य परम्परा में आने वाले रामानन्द ने राम भक्ति को उत्तर भारत

में प्रचारित किया । कबीर के समय तक परब्रह्म के अवतार और दशरथ पुत्र राम की भक्ति सामाजिक धार्मिक जीवन में अपनी जड़ पूरी तरह जमा चुकी थी । इससे ब्राह्मण की श्रेष्ठता, वेद में आस्था, वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रति विश्वास आदि पौराणिक मान्यताओं को पूर्ण प्रतिष्ठा मिली ।

दशरथ पुत्र राम की परब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठा और इसके प्रति कबीर के अस्वीकार की भावना को रेखांकित करते हुए डा० राजदेव सिंह ने लिखा है - "ब्राह्मण की श्रेष्ठता में अविश्वास करने वाले, वेद में आस्था न रखने वाले लोगों की परम्परा इस देश में काफी पुरानी है, लेकिन उपलब्ध साहित्य एवं अन्य सम्बद्ध सूचनाओं के हिसाब से दाशरथि राम की भगवन्ता को अस्वीकार करने वाले प्रथम व्यक्ति कबीर थे । कबीर के बाद तुलसी के पहले इस तरह के और भी बहुत सारे संतों का साहित्य हमें मिलता है ।"[1]

अवतारवाद हिन्दू धर्म की ऐसी पौराणिक मान्यता रही है, जिसके आधार पर भारतीय वर्ण व्यवस्था , जातीय श्रेष्ठता एवं हीनता की असामाजिक भावना को सबसे अधिक बल मिला । राम हिन्दू समाज की सम्पूर्ण परम्परागत सामाजिक, धार्मिक मान मर्यादा के प्रतीक बन गये थे । मर्यादा पुरुषोत्तम

---

1. डा० राजदेव सिंह : संत साहित्य की भूमिका, पृष्ठ - 30

के रूप में अत्यन्त प्राचीन काल में इन्हें जो प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी, वह अन्य किसी अवतार को नहीं । दशरथ-सुत राम को तुलसी के ग्रहण के पीछे उस युग की परिस्थितियाँ जिम्मेदार थीं । धर्म के अस्थिर रूप ने समाज में जिस अव्यवस्था को जन्म दिया था, सगुण मतानुयायी वैष्णव धर्म का जिस ढंग से निर्गुण मतानुयायियों ने विरोध किया था, उसमें राम ही एक मात्र ऐसे आदर्श आलम्बन बन सकते थे, जिसके माध्यम से सगुण मत एवं अवतारवाद की प्रतिष्ठा की जा सकी थी । तुलसी द्वारा दशरथ सुत राम को ग्रहण करना अधिक स्वाभाविक था । तुलसी के पूर्व निर्गुण संतों ने सगुणोपासना और अवतारवाद का खण्डन किया था । कबीर ने स्पष्ट कहा - "दशरथ सुत तिहुलोक बखाना, राम नाम का मरम है आना ।" शिव पार्वती संवाद के माध्यम से तुलसी ने उक्त कथन का उत्तर दिया है । पार्वती प्रश्न करती हैं - "रामु सो अवध नृपति सुत सोई । की अज अगुन अलख गति होई।।"

रामचरित मानस में पार्वती शिव से प्रश्न करती हैं -

राम कवन प्रभु पूछहूँ तोही । कहिअ बुझाइ कृपानिधि मोही ।।
एक राम अवधेश कुमारा । तिन्ह कर चरित विदित संसारा ।।
नारि विरह दु:ख लहेउ अपारा । भयउ रोष रन रावन मारा ।।
प्रभु सोइ राम की अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि ।।[1]

---

1. रामचरित मानस : बालकाण्ड, पृष्ठ - 44/पद 46

पार्वती के इस प्रश्न का शिव उत्तर देते हैं -

तुम्ह जो कहा राम कोउ आना । जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना ।।

कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जे मोह पिसाच ।

पाखन्डी हरि पद विमुख, जानहिं झूठ न साँच ।।

वस्तुतः यह आक्रोश शिव का पार्वती या अन्य लोगों पर नहीं है, बल्कि तुलसी का निगुण पंथियों पर है । उत्तरकाण्ड के कलि वर्णन में उनका यह आक्रोश और अधिक गहरा हो गया है - "साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान, भगति निरुपहिं भगति कलि निन्दहिं वेद पुरान ।।"

अवतारवाद की अवधारणा के पीछे धर्म की स्थापना (लोक, वेद की मर्यादा) थी । तुलसी के राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं । वेद के साथ लोक को महत्व देकर तुलसी ने धर्म का समाजीकरण किया है । तुलसी का समाज एवं धर्म दोनों वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित है ।

कलिकाल एवं राम-राज्य की अवधारणा:-

तुलसी अपने समय के प्रति विक्षुब्ध हैं । यह उनकी रचनाओं से प्रकट होता है । तुलसी ने राम की कथा में अपनी कल्पना का समाज और उसमें सर्वोपरि मनुष्य को व्यंजित करने के लिए आदर्शवादी ढंग से कही है । तुलसी ने जिस कलिकाल की बात कही है उसके बारे में कहा

जाता है कि इसमें भागवत का अनुसरण है । तुलसी के लिए कलिकाल पौराणिक प्रसंग नहीं बल्कि मध्यकाल का भयावह यथार्थ है । तुलसी के समय में उत्तर भारत में कई बार अकाल पड़े और महामारी आई । तुलसी अकाल की भयावहता का संकेत करते हैं । उत्तरकाण्ड में काक भुशुण्डि कहते हैं - 'कलि बारहि बार दुकाल परै । बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै ।।"[1] अपनी आत्मगाथा सुनाते हुए कहते हैं कि -

तेहि कलिकाल बरष बहु बसेउं अवध विहगेस ।
परेउ दुकाल विपति बस तब मैं गयेउं बिदेस ।।
गयउं उजैनी सुनु उरगारी । दीन मलीन दरिद्र दुखारी ।[2]

काक भुशुण्डि को दुकाल की विपत्ति के कारण अवध छोड़कर भागना पड़ा था । कवितावली के उत्तरकाण्ड में तुलसी कहते हैं - "दिन-दिन दूनों देखि दारिदु, दुकाल, दुख, दुरित, दुराजु सुख सुकृत सकोच है ।" और 'दुनी दुख दोष दरिद्र दली है ।"[3] 'विनय पत्रिका' भक्ति एवं संवेदन का निवेदन काव्य है, किन्तु यहाँ भी अकाल, दुर्भिक्ष तुलसी की चेतना पर छाये हुए हैं।

---

1. मानस : उत्तरकाण्ड पद-101
2. मानस : उत्तरकाण्ड, पद संख्या - 104
3. कवितावली : उत्तरकाण्ड, पद - 81, 85

कामधेनु वसुन्धरा कलियुग कसाई के अत्याचार से इतनी संत्रस्त है कि जो बीज **बोया** जाता है, वह जमता ही नहीं है - "कामधेनु - धरनी कलि-गोमर-विवस बिकल जामाति न बई है ।"[1] तुलसी दुर्भिक्ष का कारण भाग्यचक्र को मानते हैं । तुलसी की भक्ति मार्गी दृष्टि उन कारणों पर नहीं जाती है, जहाँ भूमि सामन्ती व्यवस्था के शिकंजे में थी । तुलसी भुखमरी का सहज समाधान राम का नाम लेना पा जाते हैं -

'कलि नाम कामतरु राम को'

× × ×

दल निहार दारिद दुकाल दुख दोष घोर घन घाम को ।

नाम लेत दाहिनो होत मन, बाम बिधाता बाम को ।।[2]

तुलसी जिस कलिकाल का वर्णन करते हैं वह निश्चित ही उनके सामन्ती परिवेश की उपज है । सामन्ती ढाँचे वाला, शोषण पर आधारित मध्यकालीन समाज उनकी संवेदना पर बार-बार चोट करता है । वे राम में अपने को एकाग्र कर समाधान पाना चाहते हैं । मध्यकालीन समाज का इतिहास लिखने वाले विद्वानों ने भी संकेत किया है कि सामान्य जन की स्थिति खराब थी । खुशहाली केवल विशिष्ट जनों तक ही थी ।

---

1. विनय पत्रिका - तुलसीदास, पद - 139
2. विनय पत्रिका - तुलसीदास, पद - 156

तुलसी का 'राम - राज्य' मध्यकालीन लोकचित्त और लोकमत का अनुभव प्रसूत आदर्श राज्य है । इसे मध्यकालीन साहित्य की सांस्कृतिक उपलब्धि तथा इतिहास और पुराण, परम्परा एवं रुढ़ि, यथार्थ एवं कल्पना का सुन्दर समन्वय माना जा सकता है । परम्परा एवं मर्यादा को आत्मसात् करने वाले तुलसी ने भूमि, प्रजा, लोक मंगल, समाज एवं उसकी अन्यान्य ईकाइयों की मूल्य मीमांसा की । यद्यपि तुलसी का राम राज्य धर्म, नीति एवं आध्यात्मिकता की पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित है जिसमें वैष्णव मर्यादावादी आस्थापरक वृत्ति बलवती दिखायी देती है, फिर भी उसमें समाज, संस्कृति, राष्ट्र एवं आध्यात्मिकता की आकाक्षाएँ व्यक्त हुई हैं । तुलसी ने तत्कालीन प्रशासनिक व्यवस्था की विभीषिका से उत्पन्न असुरक्षित सामाजिक जीवन की भयावह और क्रूर विषमताएँ स्वयं भी झेली थी । व्यक्तिगत जीवन एवं समाज - दोनों में दरिद्रता के साम्राज्य को नग्न रूप में देखा था । लोग जीविका विहीन होकर भूख की ज्वाला से त्राहि-त्राहि कर रहे थे । दरिद्रता रूपी रावण ने सारे देश को आक्रान्त कर रखा था । पेट की आग से संत्रस्त लोगों के कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार लुप्त हो गया था । बार-बार अकाल पड़ रहा था । अन्न के बिना लोग कीड़े-मकोड़ों की तरह मर रहे थे - "कलि बारहि बार अकाल परै । बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै ।।" उनकी दृष्टि में यह सब कुराज - दुराज का ही परिणाम था, जिसमें दरिद्रता दुख एवं पाप का बोल-बाला था । इन त्रितापों से मुक्ति के लिए उन्होंने रामराज्य की कल्पना की थी ।

तुलसी के राम राज्य में दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से सभी लोग मुक्त थे । चारों ओर सुख सम्पदा का राज्य था । इसमें कोई दरिद्र, दुखी, दीन नहीं था । भूमि कामधेनु हो गयी थी । अकाल नहीं पड़ता था - 'माँगे बारिद देहिं जल' । नदियों में मधुर शीतल जल प्रवाहित होती थी । सब शरीर सुन्दर एवं निरोग थे । धर्म अपने चारों चरणों में पृथ्वी पर अवस्थित था । दण्डनीति का नाम निशान नहीं था । कोई किसी का शत्रु नहीं था, इसलिए युद्ध का सर्वथा लोप हो गया था । सभी लोग गुणग्राहक, पंडित एवं ज्ञानी थे । सभी कृतज्ञता की भावना से ओत-प्रोत और छल-कपट विहीन थे । यही नहीं, राम राज्य की असामान्यता एवं अलौकिकता का वर्णन भी तुलसी ने किया है -

फूलहिं फलहिं सदा तरुकानन । रहहिं एक संग गज पंचानन ।।
लता विटप मागे मधु चवहीं । मन भावतो धेनु पय श्रवहीं ।।
प्रगटीं गिरिन्ह विविध मनिखानी । जगदातमा भूप पहिचानी ।।
सागर निज मरजादा रहहीं । डारहिं रतन तटन्हि नर लहई ।
विधि महिपूर भयूखन्हि रवि तप जेतनेहि काज ।
माँगे बारिद देहि जल रामचन्द्र के राज ।।

तुलसी का राम राज्य सामाजिक मंगल से पूर्ण धर्म राज्य है जिसमें नागरिकों की समस्त चिंतायें आकांक्षाएँ पूर्ण होती हैं । तुलसी ने रामराज्य की असामान्यता एवं अलौकिकता का वर्णन अधिक किया है ।

वस्तुतः तुलसीदास की वैचारिकता सामन्ती समाज रचना की आभिजात्यवादी शक्तियों से अनुशासित थी । इस अनुशासन में उन्होंने जो लोक कल्याण का आदर्श प्रस्तुत किया, वह निर्गुण सन्तों के आदर्श से भिन्न था । तुलसीदास के लिए मानव मात्र के प्रति प्रेम, ईमानदारी, सच्चाई, सहानुभूति आदि से भी अधिक महत्वपूर्ण थी सामाजिक मर्यादा की रक्षा । इस सामाजिक मर्यादा का मूलाधार थी वर्णाश्रम व्यवस्था । विशिष्टाद्वैती ऊँच-नीच की भावना पर आधारित यह वर्ण व्यवस्था तत्कालीन सामन्ती सामाजिक - आर्थिक संरचना की पोषक बनी । इसी सीमा में रहकर ही राम मानवी-सामाजिक सम्बन्धों का निर्वाह करते हैं । तत्कालीन मानव सम्बन्धों की नैतिकता और उसके आचार-विचार का कहीं से भी उल्लंघन न करते हुए भी राम कोल किरात, केवट, निषाद, शबरी आदि अछूत समझे जाने वाले लोगों को गले लगाते हैं । उनकी इस मनुष्यता से तत्कालीन मानव सम्बन्ध अधिक घनीभूत होते हैं । राम की यह मनुष्यता ही 'मानस' को कालजयी रचना सिद्ध करती है लेकिन जिन नैतिक मानदण्डों, सामाजिक आचारों, विचारों का राम पालन करते करवाते हैं वे तुलसी की सामन्ती विश्व दृष्टि और जीवन मूल्यों के परिचायक हैं । वे नियम विधान आज स्वीकार योग्य नहीं है । अपनी समाज समीक्षा में तुलसी लिखते हैं -

"सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना, मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना ।

जे बरनाधम तेलि कुम्हारा, स्वपच किरात कोल कलवारा ।।

नारि मुई गृह सम्पति नासी, मुड़ मुड़ाइ होहिं सन्यासी ।

ते बिप्रन सन आजु पुजावहिं, उभय लोक निज हाथ नसावहिं ।।[1]

यहाँ तुलसीदास अपनी वर्णाश्रम वर्गीय मनोभूमि का परिचय देते हैं । इसके विपरीत कबीर कहते हैं - "तू बामन बामनि का जाया । आन बाट ह्वै क्यों नहिं आया" । कबीर वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रति क्षोभ प्रकट करते हैं। यह कबीर की अपनी वर्गीय मनोभूमि है । इस प्रकार निर्गुण एवं सगुण के मध्य तत्कालीन सामाजिक संरचना के मूल्यमानों और उसकी नैतिक आचार व्यवस्था के प्रति विरोध एवं अवरोध की भावना को समझे बिना 'मानस' की सार्थकता में निर्णय देना उचित नहीं है । दरअसल वर्ण व्यवस्था का टूटना, परम्परागत जातिगत जीविका के पेशे को छोड़कर दूसरे पेशे अपनाना तथा शास्त्रीय बंधनों का ढीला होना, जिन पर तुलसी दुःखी हैं और अपना आक्रोश प्रकट करते हैं - समाज की गतिशीलता या आगे बढ़ने का संकेत हैं । तुलसी को यह 'सामाजिक - परिवर्तन' रास नहीं आ रहा था क्योंकि उनका सांस्कृतिक आदर्श पुरातन, वर्णाश्रम वादी था । 'रामराज्य' की अवधारणा टूटते हुए या संकटग्रस्त 'वर्णाश्रम मूल्यों' को पुनः स्थापित करने का संकल्प-स्वप्न है । इसीलिए कबीर को ये परिवर्तन क्षुब्ध नहीं करते, क्योंकि 'वर्णाश्रम' के आदर्शों व मूलाधारों पर वे स्वयं हमला कर रहे थे । वे इन परिवर्तनों के प्रति स्वागत भाव रखते थे ।

*****
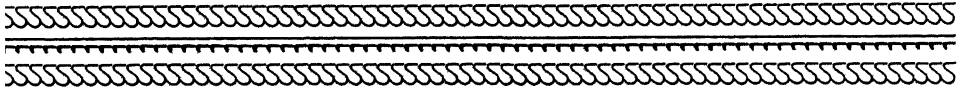
पंचम अध्याय

निर्गुण साहित्य का समाजशास्त्रीय विश्लेषण
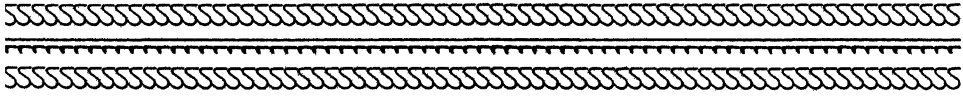
निर्गुण साहित्य का समाजशास्त्रीय विश्लेषण

मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन समस्त भारतीय आन्दोलनों से कहीं अधिक व्यापक, गहन एवं अद्वितीय है । भक्ति आन्दोलन में निर्गुण-सगुण धाराओं के बीच विवाद का आधार केवल उपासना पद्धति नहीं है, बल्कि दोनों धाराओं के सामाजिक - सांस्कृतिक मूल्यों के बीच की संघर्ष है । ये दोनों विरोधी सामाजिक-सांस्कृतिक शक्तियाँ मध्यकाल की दो वर्गीय शक्तियाँ हैं, जिनमें एक का सम्बन्ध सामन्ती अभिजात्य वर्ग से एवं दूसरी का शोषित उत्पीड़ित वंचित वर्ग से है । सगुण विचारधारा ने सामन्ती आभिजात्य वर्ग का प्रतिनिधित्व किया एवं निर्गुण विचारधारा ने शोषित उत्पीड़ित वर्ग का।

सगुण धारा के कवियों व उनके साहित्य का वर्गीय तथा समाजशास्त्रीय विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि सगुण धारा का साहित्य वर्णाश्रम के सांस्कृतिक आदर्शों व मूल्यों का पोषक था, वहीं भारतीय जनमानस को बहुत भीतर तक प्रभावित करने वाले निर्गुण विचारधारा में वर्णाश्रम के आदर्शों पर आधारित किसी भी परम्परित भेदभाव को स्वीकृति नहीं मिली। जाति-पाँति, ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, छूत-अछूत, हिन्दू-मुसलमान, बौद्ध-जैन, शैव-शाक्त, स्त्री-पुरुष किसी भी विभेद को निर्गुण भक्ति के मार्ग में बाधक नहीं माना गया । निर्गुण भक्ति आन्दोलन की विशेषता रही कि इसे गति एवं दिशा देने वाले अधिकांश संत, सूफी निरक्षर थे एवं समाज के निचले वर्गों से सम्बद्ध थे । निर्गुण साधकों ने परम्परित मृत मूल्यों, विचारों,

रूढ़ियों को ही नहीं बल्कि लोक वेद की किसी भी निरर्थक जकड़बन्दी को स्वीकार नहीं किया । अपने समसामयिक वर्तमान के प्रति पूर्णतः सशक्त चेतना के सहारे उन्होंने अपने समसामयिक जीवन की अनबूझ पहेली को तर्कसंगत और वस्तुपरक समाधान देने के लिए संघर्ष किया । निर्गुण साधकों ने मध्यकालीन साहित्य, कला, दर्शन की रूढ़ियों को अस्वीकारा तथा सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, दार्शनिक, वैचारिक समस्त परम्परित रूढ़ियों का खुला विरोध किया । लोक एवं वेद के अर्थहीन मूल्यों को सहजता से तोड़ा गया ।

निर्गुण संतों का युग सामाजिक सांस्कृतिक दृष्टि से अनास्था, विघटन एवं वर्जनाओं का युग था । उस युग में सामाजिक-सांस्कृतिक मुक्ति के लिए आध्यात्मिक के अलावा कोई अन्य विकल्प सम्भव न था । धर्म एवं अध्यात्म के माध्यम से ही मनुष्य के मूल्य निर्धारित किये जाते थे तथा इस मूल्य निर्धारण की प्रक्रिया में ब्राह्मण मात्र एक ही वर्ग-अभिजात्य वर्ग के हितों के लिए समर्पित था । साकार पूजन में कर्मकाण्डों एवं अंध विश्वासों का बोलबाला था । परम्परागत सारे मूल्य अपनी अर्थवत्ता खो चुके थे । अतः संतों ने साकार पूजन से उत्पन्न सभी विकृतियों का विरोध किया जो समाज को अन्दर से खोखला किये जा रही थी । मध्यकालीन निर्गुण आन्दोलन अपने मूलरूप में केवल धार्मिक या अध्यात्मिक संवेदना से अनुप्राणित आन्दोलन नहीं था अपितु अभिजात्य वर्ग की निरंकुशता से उत्पीड़ित जनमानस की मुक्ति का रहस्य खोलने वाला सामाजिक आन्दोलन भी था ।

निर्गुण साहित्यधारा में व्यक्त मूल सामाजिक सांस्कृतिक दृष्टिकोण:

सगुण - साकार की आराधना से उत्पन्न विकृतियों का विरोध:-

निर्गुण साधकों ने सगुण साकार की आराधना में विकृति को स्पष्ट किया । उनके अनुसार सगुण - साकार की आराधना में मूल विकृति यह थी कि जो ब्रह्म सबका सृष्टा, पालक एवं धारक है वह किसी जाति, धर्म एवं वर्ग का बनकर रह गया था एवं देश काल से वह बाधित था अतः वह समस्त मानवता तथा मानवेतर जड़ एवं चेतन का जनक नहीं हो सकता है । संत कवियों ने ऐसी विकृतियों को सूक्ष्मता से देखा और अपनी बुद्धि और तर्क की तुला पर खरा न उतरने वाले सगुण साकार ब्रह्म की कल्पना का खण्डन तथा उसकी आराधना का निषेध किया । कबीर का ब्रह्म अतुलनीय है, अप्रतिम है । वह अनादि, अनन्त एवं रूप-अरूप दोनों से ऊपर है। कबीर का ब्रह्म सर्वव्यापी, अविगत, ज्ञान स्वरूप, अनिवर्चनीय है । कबीर कहते हैं - 'किरतिम सो जो गरम अवतरिया'[1] अतः वे सगुण-साकार अवतारी ब्रह्म को अस्वीकार कर उस निर्गुण निराकार ब्रह्म के साथ लगने की बात कहते हैं । कबीर कहते हैं कि सगुण - साकार की उपासना से उत्पन्न विकृतियों की स्थिति यह है कि जो सभी को एक सूत्र में बाँधने वाला ब्रह्म है उसे कोई देख ही नहीं पाता है - 'अलख निरंजन लखै न कोई, जेहिं

---

1. कबीर ग्रन्थावली, स0 पारसनाथ तिवारी, रमैनी 6, पृष्ठ - 120, प्रथम संस्करण ।

बंधे बंधा सब लोई'[1] । संतों की दृष्टि में ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है । जगत के कण-कण में वही विद्यमान है । उसके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं । जीव तो राम है ही जगत् भी राम ही है । संतों ने सभी में एक राम को देखा है - 'एक राम देख्या सबहिन मैं कहैं कबीर मनमाना'[2] पंचतत्व उसी की रचना है । आकाश-पाताल और दसों दिशाओ मे आकाश की तरह वह ही समाया हुआ है । वह हरि ही तन है और यह तन ही हरि है। तत्व और निस्तत्व सभी कुछ वह स्वय है ।[3] ब्रह्म को निर्गुण - निराकार मानने से किसी भी प्रकार की विकृति नहीं पैदा होती है । उसे सगुण - साकार मानने से अनेकों विकृतियाँ पैदा हो जाती हैं ।

वेदशास्त्र पुराणों की उपेक्षा:-

मध्ययुगीन समाज वर्गों में विभाजित था । समान के उच्चवर्गीय लोग भिन्न-भिन्न धर्मग्रन्थों के आधार पर इस वर्गीय व्यवस्था को धर्म संगत बताकर वैमनस्य की भावना को बढ़ावा दे रहे थे । धार्मिक सामन्तों ने स्वनिर्मित पाखण्डों एवं आडम्बरों का उत्तरदायित्व धर्मग्रन्थों पर डाल दिया था । इन

---

1. कबीर ग्रन्थावली, स0 पारसनाथ तिवारी, रमैनी 6, पृष्ठ - 120, प्रथम संस्करण ।
2. कबीर ग्रन्थावली सं0 श्याम सुंदरदास, पृष्ठ - 105, पद 52
3. मलूकदास की बानी, पृष्ठ - 23, शब्द - 2

धर्मग्रन्थों के कारण केवल सामाजिक विश्रृंखलता ही नहीं बढ़ रही थी बल्कि इसमें निर्दिष्ट वाह्याचारों एवं विधानों के कारण लोगों का समय भी व्यर्थ नष्ट होता था । विभिन्न धर्मावलम्बियों का विश्वास अलग-अलग ग्रन्थों में था । इनमें व्याप्त अंध विश्वास भी सामाजिक विसमता के मूल कारण थे । इस सम्बन्ध में डा० मोती सिंह ने लिखा है - "इन साधकों एवं संतों ने पुस्तकों के ज्ञान और पांडित्य को सदैव आशंका एवं अविश्वास की दृष्टि से देखा था, कारण यह कि ज्ञान कुछ थोड़े से व्यक्तियों की धरोहर था। आम जनता यदि शिक्षित रही भी तो वह तत्वज्ञान सम्बन्धी इन सूक्ष्म भेदों से उदासनी रही । इस प्रकार पांडित्य मुट्ठी भर लोगों की निधि होने के कारण, सामान्य जनता के शोषण का कारण बन गया ।"[1] इन सब बुराईयों को देखकर ही निर्गुण संतों ने पोथी पत्री का खण्डन किया ।

सिद्धों एवं नाथों ने भी शास्त्र पुराण के प्रति विरोध किया था नाना ग्रन्थों के अध्येताओं को सम्बोधित करते हुए मुनि रामसिह कहते हैं- "हे पण्डित, कणों को छोड़कर तूने भूसी को ही कूटा है ।"[2] ग्रन्थ एवं उसके अर्थ में तुझे संतोष है, किन्तु मूर्ख, परमार्थ से तेरा परिचय नहीं ।

---

1. निर्गुण साहित्य, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि - डा० मोती सिंह, पृष्ठ - 112
2. संत सुधा सार - मुनि रामसिंह, खण्ड-1, पृष्ठ - 21

तूने बहुत पढ़ लिया तो क्या ? ज्ञान की चिनगारी को पढ़ जो प्रज्ज्वलित होते ही पुण्य और पाप दोनों को एक क्षण में भस्म कर देती है । इसी प्रकार के भाव नामदेव ने भी व्यक्त किये हैं - "वेदहिं झूठा, शास्त्रहिं झूठा, भक्त कहा ते पछानी ।"[1] कोटे पुस्तक ज्ञान की निरर्थकता के लिए कबीर काजियों को फटकारते हैं - "काजी कौन कतेष बषानै । पढ़त्त-पढ़त: केते दिन बीते, गति एकौ नहिं जानै ।"[2] निर्गुण मतावलम्बियों का विश्वास था कि समाज में व्याप्त पाखण्डों को प्रोत्साहित करने मे शास्त्रों की ही भूमिका है । पंडितों एवं मुल्लाओं ने अपनी श्रेष्ठता के लिए वेद-कितेब का सहारा लिया । उनके इस कुत्सित प्रभाव को दूर करने के लिए अबोध जनता को शास्त्रों के भ्रम से बाहर निकालना अति आवश्यक था । कोरे शाब्दिक तत्वों की ओर ध्यान देने वालों से सत्कर्मों की आशा करना व्यर्थ है क्योंकि उन्हें शास्त्रों के भ्रम में रहने से, उनके अतिरिक्त कोई अन्य बात सोचने समझने का अवसर नहीं मिलता । कबीर कहते हैं -

"पंडित वेद पुरान पढ़ै, औ मौलाना पढ़े कुराना ।
कहै कबीर वे नरक गये, जिन हिरदय राम न जानां ।।[3]

---

1. सं0 डा0 विनय मोहन शर्मा - हिन्दी का मराठों संतों की देन, पृ0-133
2. हिन्दी के कवि और काव्य - सं0 गणेश प्रसाद, पृष्ठ - 43
3. कबीर रचनावली - सं0 अयोध्या सिंह उपाध्याय, पृष्ठ - 139

धर्म ग्रन्थों में लिखे गये सिद्धान्तों को पूर्णतः सर्वमान्य सिद्ध नहीं किया जा सकता । तत्कालीन धर्मशास्त्र अनेकों भ्रमात्मक बातों से भरे पड़े थे । धर्मशास्त्रों की व्याख्या करने वालों ने अपने वाग्जाल से उन्हें और भी दुरुह एवं विकृत कर डाला था । चारों वेदों के ज्ञाता पण्डित भी उन्हीं में उलझ-पुलझ कर मर रहे थे । कबीर कहते हैं -

ब्राह्मण गुरु है जगत् का, साधू का गुरु नाहिं ।
उरझि पुरझि करि-मरि रहया, चारिउ वेदां माहिं ।।[1]

पण्डित एवं विद्वान वेदों की व्याख्या तो करते थे किन्तु उनके रहस्य की आन्तरिक बातों से स्वयं अनभिज्ञ थे - "पढ़ि-पढ़ि पंडित वेद बषाणै, भीतरि हूति बसत नां जाणै ।"[2] संत दादू दयाल के अनुसार प्रियतम के प्रेम को पढ़ने वाला कोई विरला ही हुआ करता है । प्रेम के अभाव में शास्त्र एवं ग्रन्थों का अध्ययन निरर्थक सिद्ध होता है - "दादू पानी प्रेम की, बिरला बाचे कोय । वेद -पुरान पुस्तक पठै, प्रेम बिना क्या होइ ।"[3] सच्चा एवं अनुभूति जन्य ज्ञान प्राप्त करना न केवल समय साध्य है, बल्कि कष्ट साध्य भी है । दरिया साहब ने भेद एक वेद का अन्तर प्रतिपादित करते हुए कहा है कि जो भेद जानना चाहें, उनके लिए उचित है कि वे वेद

---

1. कबीर ग्रन्थावली सं0 श्यामसुंदर दास, पृ0-28
2. कबीर ग्रन्थावली- सं0 श्यामसुंदर दास, पृष्ठ - 65
3. दादू दयाल की बानी, भाग-1, पृष्ठ - 41

भूज जायें - "पोथी पतरा गीता गावहु, भेद नहीं तब वेद भुलावहुँ ।"[1] निर्गुण साधकों का मानना है कि वेद पुराण पढ़ने-पढ़ाने वालों ने अपना व्यापार जमाने के लिए दुकानें खोल रखी थीं । अर्थ प्राप्त करना ही उनका लक्ष्य था । वे स्वयं ज्ञान शून्य होते हुए भी दूसरों को उपदेश देते हैं । धरनीदास का विचार है कि सच्चा पण्डित वही है जो पढ़कर सब भूज जाय । जो पढ़ लिखकर ही कथायें गढ़ता है वह पंडित नहीं कहा जा सकता है -

धरनी सो पण्डित नहीं, जो पढ़ि गुनि कथै बनाय ।
पण्डित ताहि सराहिए, जो पढ़ा बिसरि सब जाय ।।[2]

निर्गुण साधकों ने जो वेद - पुराण एवं शास्त्रों की निंदा नहीं की है उसका तात्पर्य ग्रन्थों का अनादर नहीं था । सन्तों का तात्पर्य केवल उन ग्रन्थों से प्राप्त ज्ञान के दुरूपयोग से था । जो उन ग्रन्थों के वास्तविक अर्थों को न जानकर अर्थ का अनर्थ कर रहे थे, उनके लिए ये ग्रन्थ निरर्थक बोझ मात्र ही कही जा सकती है -

"वेद - कितेब कहों मत झूठें, झूठा तो न बिचारै" ।[3]

संतों द्वारा इन ग्रन्थों की उपेक्षा का कारण उसमें चतुर्दिक विकीर्ण वाग्जाल

---

1. दरिया सागर, पृष्ठ - 96
2. संत सुधासार खण्ड-2, पृष्ठ - 49
3. कबीर ग्रन्थावली, सं0 श्याम सुन्दर दास, पृष्ठ - 248

जो तत्कालीन धर्म गुरुओं की देन थी - "शास्त्र सुमृति और वेद पुराण, बखानत है अति लाय के अंजन ।"[1] वास्तव में वेद गम्भीर सागर के समान हैं उससे रत्न निकालने को शक्ति विरले में ही होती है । इसके लिए कठोर साधना की आवश्यकता होती है -

वेद बहुत विस्तार है, नाना विधि के शब्द ।
पढ़ते पार न पाइये, जे बीते बहु अब्द ।।[2]

किंतु तत्कालीन परिस्थितियों में विधा के अभाव में ग्रन्थों का ज्ञान कठिन था । सामान्य शिक्षा से शून्य लोग गूढ़ रहस्य की बातों को जानने में असमर्थ थे । इन्हीं कारणों से संत प्रत्येक बात अनुभव की कसौटी पर कसना चाहते थे । इसी भावना के कारण कबीर कह सके - "तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता हूँ आखिन देखी ।। मैं कहता सुरझावन हारी, तू रखता उरझाय रे ।।[3] प्रत्येक बात को स्वानुभूति की कसौटी पर कसने वाले महापुरुषों का 'कागद पर लिखी' बातों के प्रति उपेक्षा प्रदर्शन स्वाभाविक था ।

पुस्तकीय ज्ञान, जो केवल शिक्षित वर्ग तक ही सीमित था, वस्तुतः बहुसंख्य जनता की पहुँच से बाहर था । संत साधक जिस ज्ञान को बन्धन मुक्त करके

---

1. सुन्दर विलास, पृष्ठ - 79
2. संत सुधासार, सुन्दर दास, खण्ड-1, पष्ठ - 586
3. कबीर : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ - 144

जन-जन में फैलाना चाहते थे, वह आत्मानुभव पर टिका हुआ खरा ज्ञान था । इसीलिए उन्होंने धर्म ग्रन्थों की निन्दा की और उसके प्रति उपेक्षा दिखाई । सभी निर्गुण साधकों का एक ही लक्ष्य था - जन समाज के कल्याण और जन समाज की उन्नति के मार्ग में बाधक बनने वाले परस्पर विरोधी साम्प्रदायिक विचारों का एकान्त अस्वीकार और भूत मात्र की एकता प्रमाणित करने वाले विचारों का प्रचार ।

अवतारवाद का विरोधः-

आस्तिक मनुष्य अपने मध्य ईश्वर की उपस्थिति से एक प्रकार की सुरक्षा एवं तृप्ति का अनुभव करता है । मध्यकाल में इस विश्वास ने अधिक व्यापक रूप ग्रहण कर लिया । जन सामान्य की धारणा बन गयी थी कि परमात्मा शरीर धारण कर अवतार लेता है ।

सगुण वैष्णव भक्ति के व्यापक प्रचार वाले मध्यकालीन समाज में मात्र अवतारों तक सीमित कर दिया गया । अपने - अपने विश्वासों के अनुसार लोग अवतारों के समर्थक हो गये । ऐसी स्थिति में ईश्वर विश्वास भी समाज में भिन्नता एवं द्वेष का कारण बन गया । निर्गुण साधकों ने सारी स्थिति को परखा और इन्हें यह बहुत अस्वाभाविक लगा कि जन्म-मरण से असंपृक्त परब्रह्म मनुष्य रूप में या किसी अन्य जीव (मत्स्य, वाराह, कच्छप) के रूप में जन्म लेता है । संतों के मत में रक्त मांस के रूप

में जन्म लेने वाला कोई भी मौखिक शरीर परमात्मा नहीं हो सकता ।

अवतारवाद के विरोधी कारणों का विवेचन करते हुए - डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल लिखते हैं - "अवतारवाद विरोध का एक प्रधान कारण यह भी हो सकता है कि उसके द्वारा नर-पूजा का विधान हो जाने के कारण धर्म में पाखण्ड घुसने का मार्ग मिल जाता है ।"[1] डा0 बड़थ्वाल लिखते हैं कि एक तो अवतार पद किसी व्यक्ति को इसी जीवन में प्राप्त नहीं हो पाता और दूसरे निर्गुणियों ने एक प्रकार के साधुओं के, विशेष कर गुरुओं के महत्व को बढ़ाने के लिए अवतारवाद का प्रयोग किया । वास्तव में तत्कालीन परिस्थितियाँ अत्यन्त विषम थीं । लोग अवतारों के वाह्य रूप पर मुग्ध थे । अंध विश्वास लोगों का धर्म बन चुका था । उस समय मनमाने अवतार और उनके कर्म निर्धारित किये जा रहे थे । अपने उपास्य अवतार की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए दूसरों की निन्दा का प्रचलन हो गया था। जनता को भी अवतारों में ईश्वर की शक्ति दृष्टिगोचर होती थी । अवतारवाद की परिकल्पना के कारण ही शिव के उपासक शाक्तों से एवं शाक्त वैष्णवों से कलह किया करते थे । राम एवं कृष्ण भक्तों में भी अवतारवाद के कारण प्रतिद्वंद्व चल रहा था । ईश्वर विश्वास की सात्विक भावना से उद्भूत

---

1. हिन्दी काल में निर्गुण सम्प्रदाय : डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृष्ठ - 22।

अवतारवाद परस्पर कलह एवं वैमनस्य का कारण बन चुका था । अवतारवाद के साथ ही पूजा-अर्चना के नाना विधि-विधान और उसका आडम्बर भी तत्कालीन धर्म को दूषित किये हुआ था ।

अवतारवाद की कल्पना के कारण समाज में वैमनस्य बढ़ रहा था, इसके परिणामस्वरूप निर्गुण संत कवियों ने अवतारवाद का खण्डन किया। इनके खण्डन के स्वर उस समय के समाज को सजग एवं सचेत करने का उद्देश्य लिये हुए था । संतों का लक्ष्य जनता को अवतारवाद के स्वरूप के प्रति सावधान करना था । साधु पूजा या गुरु पूजा में यह बात नहीं आ सकती । जीवित व्यक्तियों के प्रति श्रद्धा चाहे कभी अन्ध विश्वास का रूप धारण कर लेती है तो कभी उनके प्रत्यक्ष आचरण का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है । ज्ञान के साथ-साथ विनम्रता इन कवियों का महत्वपूर्ण अंग था । इसके विपरीत कर्म करने वालों के विषय में कबीर ने स्पष्ट राय दी -

ग्यानी मूल गंवाइया, आपण भये करता
तायै संसारी भला, मन में रहै डरता ।[1]

जहाँ ज्ञानी 'करता' बनने का ढ़ोंग रचता है, वहीं इन कवियों की गुरु पूजा

---

1. कबीर ग्रन्थावली, सं0 श्याम सुन्दर दास, पृष्ठ - 32

या श्रद्धा का अंत हो जाता है । अवतारवाद के विरोधी निर्गुण संतों के अनुयायियों ने आगे चलकर इन्हें ही अवतार बना डाला । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे 'घर जोड़ने की माया'[1] कहा है । किसी भी प्रकार की पूजा-अर्चना निर्गुण विचारधारा के प्रतिकूल है । रक्त माँस से निर्मित शरीर का विचार किया जाय तो कोई भी अवतार परमात्मा नहीं । जहाँ शरीर को त्याग कर आत्मा को दृष्टि में रखा जाय वहाँ सभी परब्रह्म का अंश है । पैगम्बर हों या अवतार, दोनों में से कोई स्वरूप भीं इन संतों को ग्राह्य नहीं है । कबीर ने स्पष्ट कहा है कि संसार दशरथ के पुत्र को राम कहता है किंतु वास्तव में 'राम' नाम का मर्म दूसरा है - "दशरथ सुत तिंहु लोक बखाना । राम नाम का मरम है आना ।"[2] कबीर ने राम का ही नहीं, दसों अवतारों का खण्डन किया है । कबीर का कहना है कि ब्रह्म ने न तो दशरथ के यहाँ अवतार लिया, न लंकापति से युद्ध किया, न देवकी की कोख से जन्म लिया और न ही जसोदा ने उस परब्रह्म को गोद में खिलाया । न उन्होंने मत्स्य का रूप धारण किया, न कच्छप का। कबीर कहते हैं यह सब तो ऊपरी व्यवहार है । वस्तुतः जो परब्रह्म समस्त विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त है वह इन अवतारों से ऊपर है, अगम है, उनकी

---

1. अशोक के फूल-डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी से संग्रहित निबन्ध।
2. बीजक, शब्द, 109

पहुँच से बाहर है ।[1] अवतारवाद का विरोध करते हुए दादूदयाल ने स्पष्ट कहा है कि जन्म-मरण के बीच आने वाला जीव होता है, राम नहीं । इन कवियों के अनुसार ईश्वर को नर-देह धारण करने की आवश्यकता ही क्या है ? रैदास का कहना है कि हरि सा हीरा छोड़कर दूसरे अवतारों की आशा रखना मूर्खता है -

हरि सा हीरा छांड़ि के, करहिं आन की आस ।
ते नर दोजख जाहिंगे, सत भाखै रबिदास ।।[2]

संत तुलसी साहब दस अवतार परमात्मा के नहीं, बल्कि काल के मानते हैं, जो जगत् को भ्रम में डालते हैं और उसे पकड़कर खा जाते हैं -

दस अवतार काल के जाना, जामें सारा जगत भुलाना ।
काल कराल कृष्ण अवतारी, सब जगको धरि खावैं ।।[3]

इस प्रकार संतों ने किसी भी रूप में अवतार को ग्रहण नहीं किया । वे इस सिद्धान्त के ही विरोधी थे कि ईश्वर नरदेह धारण करते हैं । उन्होंने निराकार ब्रह्म की कल्पना की थी और स्वीकार किया कि ब्रह्म निर्गुण, निराकार एवं अनन्त है । अवतारों में भगवान के साकार रूप की उपासना

---

1. कबीर, ग्रन्थावली, पारसनाथ तिवारी, रमैनी 3, पृष्ठ - 118-119, प्रथम संस्करण ।

2. संत सुधाकर - रैदास, खण्ड-1, पृष्ठ - 197

3. घटरामायण, पृष्ठ - 280

का वर्णन है इस रूप में निर्गुण भक्त उसे कैसे स्वीकार कर सकते हैं । संतों के अनुसार राम निर्गुण ब्रह्म के पर्याय हैं सगुण के नहीं ।

निर्गुण मतानुयायी अवतारवाद के परम विरोधी थे । ये जनवृत्ति का परिस्कार करके, उसको सन्मार्ग की ओर चाहते थे । अवतारों के उपासक परस्पर वैमनस्य एवं ईर्ष्या फैला रहे थे जबकि निर्गुण मत लोगों को भक्ति पथ पर उन्नत एवं दृढ़ बनाना चाहते थे और इसके लिए उन्होंने विभिन्न अवतारों की कल्पना का खण्डन किया था ।

धर्म स्थल एवं मूर्ति पूजा का विरोधः-

मध्ययुगीन निर्गुण काव्य के सृजनकाल में देश की धार्मिक अवस्था अत्यन्त विषम थी । राजनीतिक अत्याचार एवं सामाजिक भेदभाव का मूल कारण धार्मिक संकीर्णता थी । हिन्दू एवं इस्लाम धर्म दोनों में ही कुरीतियाँ, पाखण्ड एवं आडम्बर विद्यमान थे । मुल्ला अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए धर्म के नाम पर भोली भाली जनता को लूटते थे । उसे नमाज एवं हज यात्रा के लिए प्रेरित करते थे । अपने धर्म को श्रेष्ठ बतलाकर सामान्य मुस्लिम जनता को हिन्दुओं के प्रति द्वेष, ईर्ष्या तथा कट्टरता के कुत्सित भावों के लिए उकसाते थे । हिन्दू धर्म में भी कहीं शैवों तो कहीं शाक्तों को बोलबाला था । कहीं पर रामपूजन हो रहा था तो कहीं कृष्ण की लीलाओं का गान हो रहा था । वेदान्तियों का ज्ञान प्रधान चिन्तन-आचरण एक

तरफ सर्वसाधारण की समझ के बाहर था तो दूसरे उसके तथाकथित अनुयायी भी घोर पाखण्डी थे । अतः इन पक्षों की विकलांगता के कारण धर्म पूर्ण रूपेण अलक्षित हो गया था । डॉ0 पीताम्बर बड़थ्वाल के शब्दों में - "वेदान्त और अद्वैतवादी सिद्धान्तों को मानने पर भी हिन्दू बहुदेववाद में बुरी तरह से फँसे हुए थे, जिससे वे एक अल्लाह को मानने वाले मुसलमानों की घृणा के भाजन हो गये थे ।"[1] मात्र हिन्दुओं की ही धार्मिक स्थिति नहीं बिगड़ी हुई थी । मुसलमानों के इस्लाम धर्म में भी एक बड़ा भारी विकार उत्पन्न हो रहा था । डा0 बड़थ्वाल लिखते हैं - "एक अल्लाह को मानने वाले मुसलमान भी स्वयं बहुदेववादी हो रहे थे, क्योंकि काफिरों के लिए अपने अल्लाह की संरक्षा का विस्तार नहीं देख सकते थे, जिससे प्रकारान्तर से काफिरों का परमेश्वर अल्लाह से अलग हुआ ।"[2]

तत्कालीन समाज में बहुप्रचलित उपासना रूपों में मूर्ति पूजा का स्थान प्रमुख था । धार्मिक पाखण्डियों ने ईश्वर को मन्दिर मस्जिद व मूर्तियों तक सीमित कर दिया था । मूर्ति पूजा को साध्य बना दिया गया था । स्थिति यहाँ तक आ पहुँची थी कि जितने मानव उतने ही देवता हो गये थे । संतों ने जनता को भ्रमजाल से निकालने के लिए स्पष्ट कहा कि

---

1. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय - डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृष्ठ - 93
2. वही, पृष्ठ - 93

पत्थर की पूजा निरर्थक है । कबीर ने कहा - "पाहन कूँ का पूजिए, जे जनम न देइ जबाव । अन्धा नर आसामुखी, यों ही खावै आब ।।"[1] निर्गुण साधकों की दृष्टि से बहुदेवोपासना से सामाजिक एकता खण्डित हो रही थी तथा मानसिक शान्ति के स्थान पर अशान्ति बढ़ती जा रही थी -

सेवै सालिगराम कूँ, मन की भ्रान्ति न जाइ ।

सीतलता सुपने नहीं, दिन-दिन अधकी लाइ ।।[2]

संतों की दृष्टि में पत्थर का ही देवालय है और उसमें प्रस्तर प्रतिमा की ही स्थापना की गई है । ऐसी पूजा से किसी प्रकार की सिद्धि की आशा ही नहीं रखनी चाहिए -

"पत्थर ही का देहुरा, पत्थर ही का देव ।

पूजणहारा अन्धरा, लगा खोटी सेव ।।"[3]

मूर्तिपूजा जहाँ एक ओर भ्रम पर आधारित थी, वहीं इससे समाज में भेदभाव बढ़ता जा रहा था । कबीर ने प्रस्तर पूजा एवं उसके परिणाम पर व्यंग्यात्मक प्रहार किया है । उन्होंने कहा है कि पुजारी आशा लगाये रहते हैं स्वर्ग प्राप्ति की लेकिन डूब मरते हैं पाप की काली धारा में -

---

1. कबीर ग्रन्थावली, सं0 श्याम सुंदर दास, पृष्ठ - 34
2. वही, पृष्ठ - 34
3. वही, पृष्ठ - 34

खण्डन किया । संतों की दृष्टि में मूर्ति पूजा व्यर्थ ही नहीं, भ्रामक भी सिद्ध हो जाती है । संत कवियो मे कबीर ही ऐसे है जिन्होने मूर्ति पूजा पर सबसे तीव्र व्यंग्य एवं प्रहार किया - "बुत पूजि पूजि हिन्दू मुये, तुरक मुयेसिर नाई ।"[1] कबीर ने कहा कि उस पत्थर को पूजने से क्या लाभ जिससे किसी का हित साधन न हो सके । उपयोगिता के आधार पर कबीर मूर्ति वाले पत्थर से अधिक किसी चक्की वाले पत्थर को मानते हैं -

पाहन पूजे हरि मिलै, तो मैं पूजों पहार ।
ताते सो चाकी भली, पीसि खाए संसार ।।[2]

गुरुनानक ने मूर्ति पूजा का विरोध सर्वात्मवाद के आधार पर किया है । उनके मतानुसार ईश्वर तो घट घटवासी है अत: उसे मन्दिर या मस्जिद में ढूँढना भ्रम है । ब्रह्म सर्वव्यापक एवं अन्तर्यामी है । इस विश्वास से मनुष्य वाह्य पूजा के विधि विधानों की ओर ध्यान नहीं देता । निर्गुण संतों ने हिन्दुओं ही नहीं अपितु मुसलमानों का दरगाहों पर जाकर सिर झुकाना, को मूर्तिपूजा से कम नहीं माना, इसलिए उनका भी विरोध करने में पीछे नहीं रहे -

"हिन्दू पूजे देवहरा, मुसलमान महजीद ।
पलटू पूजे बोलता, जो दीद दरदीद ।।"[3]

---

1. कबीर ग्रन्थावली - सं0 श्याम सुंदर दास, पृष्ठ - 34
2. वही, पृष्ठ - 239
3. पलटू साहब की बानी, भाग-1, पृष्ठ - 101

पलटू साहब का कहना है कि जड़ पत्थरों की पूजा के स्थान पर जीवित एवं आदर्श सन्तों की पूजा ही श्रेयस्कर है । पलटू साहब अत्यन्त विनम्र भाव से पूजन के वास्तविक लक्ष्य की ओर संकेत करते हैं -

"पलटू तन करु देवहरा, मन करु सालिगराम
मन करु सालिगराम, पूजते हाथ विराने ।।[1]

संत रविदास ने भी विभिन्न देवी देवताओं की मूर्ति पूजा को सहज धर्म की प्राप्ति में बाधक माना है । । उन्होंने मूर्ति पूजा का खण्डन किया है -

"पाती तोड़े पूजि रचावै, तारन तरन कहै रे ।
मूरत माँहि बसै परमेसर, तौ जल में क्यों न तिरै रे ।।"[2]

इस प्रकार निर्गुण संतों ने हिन्दू एवं मुसलमानों दोनों की पूजा अर्चना को व्यर्थ समझा और दोनों को उचित मार्ग दिखाने का प्रयास किया ताकि उनका आपसी वैमनस्य दूर हो सके । उन्होंने शरीर को ही मंदिर और शरीर को ही मस्जिद कहा है क्योंकि इसका निर्माण स्वयं ईश्वर या खुदा के हाथों हुआ है ।

---

1. पलटू साहब की बानी, भाग-1, पृष्ठ - 83
2. संत रैदास : सं0 योगेन्द्र सिंह, पृष्ठ - 140

इस प्रकार निर्गुण संतों ने अपने उपदेशों एवं धर्म साधना के स्वाभाविक पथ प्रदर्शन के आधार पर भारतीय समाज के परम्परागत रुढ़ियों को तोड़ने का सार्थक प्रयास किया । उन्होंने सामान्य जनमानस में चेतना फैलाने का कार्य किया ।

अंध विश्वासों एवं वाह्याडम्बरों का विरोध:-

समाज की विकृत अवस्था को देखकर निर्गुण संतों के अन्तस्तल में प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई और इसके फलस्वरूप वे अपने साहित्य में सामाजिक मूल्यों को सँजोने में सफल हुए । निर्गुण साधकों ने समाज में व्याप्त आसुरीवृत्ति के उन्मूलन का पूर्ण प्रयत्न किया । निर्गुण साधकों ने अपने समकालीन समाज में विकीर्ण विचारों को समझा, परखा तथा अपने वाणी के माध्यम से उसे प्रचारित किया । यही कारण है कि इनके काव्य में एक ऐसी नवीन जन-चेतना व्यक्त हुई जिसमें एक नये सामाजिक संगठन की माँग थी ।

मध्यकालीन समाज में व्याप्त रुढ़ियों से संत आहत थे । अत: उन्होंने सामाजिक विकृतियों का विरोध करके अपने मनोनुकूल उच्च भावनाओं को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया । संतों की विद्रोही भावना समाज की जर्जरित एवं विश्रृंखलित मानव मूल्यों को देखकर अभिव्यक्ति के लिए तड़प उठी थी इसीलिए उन्होंने समस्त आडम्बर मूलक प्रवृत्तियों को उखाड़ देने का प्रयत्न किया क्योंकि वाह्य आडम्बरों से समाज में स्थायी सुख शान्ति एवं

समृद्धि नहीं आ सकती थी । निःसंदेह धर्म के समुचित परिपालन के लिए आचारों एवं विधि विधानों की आवश्यकता होती है किन्तु धर्म में केवल सात्विक आचारों को ही महत्व दिया जाना चाहिए जबकि, मध्यकालीन युग में धर्म के सभी आचार तामसिक व रजोगुणी हो गये थे और जन सामान्य मिथ्याचारों को ही धर्म समझने लगी थी ।

निर्गुण साधकों ने अनुभव किया कि समाज की बर्हिमुखी वृत्ति जनता को विहित कर्मों की समुचित समीक्षा का अवकाश नहीं देती थी । इस प्रकार लोग सदा वाह्याचारों में ही व्यस्त रहते थे । कबीर ने इसी को लक्ष्य करके कहा - "मूल छांड़ि सब डाली लाये" । इसी स्थिति की प्रतिक्रिया समस्त निर्गुण साधकों के ह्दय में हुई जिसके परिणामस्वरूप मिथ्याचारों पर कुठाराघात किया । उन्होंने देखा कि लोग धर्म के वास्तविक स्वरूप को त्याग कर वाह्याडम्बरों के पीछे लगे हुए हैं । ये आडम्बर ही समाज में अव्यवस्था, संकीर्णता, असहिष्णुता के मूल कारण हैं ।

समाज को एक सूत्र में बाँधने एवं उच्च नैतिक मूल्यों के लिए निर्गुण साधकों ने धार्मिक भेद-भाव दूर करना आवश्यक समझा और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने धर्म और उपासना के सारे वाह्याडम्बर हटाकर सात्विक जीवन की ओर समाज का ध्यान आकर्षित किया । निर्गुण साधकों ने कृत्रिमता से उत्पन्न सभी भेद-भावों को व्यर्थ कहकर सच्चाई

को पहचानने का संदेश दिया । तत्कालीन समाज में प्रचलित विविध विडम्बनाओं की आलोचना से इनका तात्पर्य जनता का ध्यान मूल प्रश्न की ओर आकर्षित करना था ताकि जन सामान्य को अपनी भ्रान्ति का ज्ञान हो सके ।

निर्गुण साधकों ने धार्मिक रूप से हो रहे वाह्य कृत्यों को निरर्थक एवं निराधार माना । धार्मिक आडम्बर किसी समाज की प्रगति में बाधक होते हैं, इसलिए इन्होंने विविध मतवादों का खोखलापन जन-जन के सम्मुख निःसंकोच भाव से प्रकट किया । सामाजिक वाह्याचारों के प्रति लोगों को सचेष्ट करने के लिए निर्गुण साधकों ने दो प्रकार की शैली अपनायी - एक खण्डनात्मक एवं दूसरी मण्डनात्मक । इनके खण्डन मण्डन का सम्बन्ध मुख्यतः दो धर्मों से है - हिन्दू तथा मुसलमान । इसके अतिरिक्त वाह्याचारों का खण्डन इन्होंने समष्टि एवं व्यष्टि रूप में भी किया ।

निर्गुण साधकों की दृष्टि में तत्कालीन समाज में हिन्दू एवं मुसलमान दोनों में वाह्याचारों की प्रधानता थी । दोनों ही समुदाय अपने तात्विक सिद्धान्तों से अलग हट चुके थे । हिन्दुओं में अहिंसा, संतोष, त्याग का स्वरूप विकृत हो चुका था । मुसलमान भी कई वर्गों में विभक्त थे । हिन्दू-मुस्लिम दोनों ही धर्म के नाम पर मिथ्याडम्बरों को प्रश्रय दे रहे थे । चूँकि समस्त मिथ्याचारों के उत्प्रेरक मुल्ला एवं पंडित थे । अतः संतों ने इन दोनों की बात मानने से इनकार कर दिया - "पण्डित मुल्ला जो लिख दिया, छाड़ि चले हम

कछु न लिया ।"[1] वाह्याचारों के खण्डन में इन्होंने किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया । संत कबीर इन धर्मों की तह में जा पहुँचे और जब उन्हें विकारों से युक्त पाया, तो निःसंकोच भाव से इन्हें बुरा कह दिया । नाभादास ने कबीर के सम्बंध में कहा भी है - "पच्छपात नहिं बचन, सबहिं के हित की भाखी"।[2] संतों की दृष्टि में मुल्ला की बांग और शेख के हज में सिर्फ वाह्याडम्बर ही है, क्योंकि ईश्वर तो घर-घर व्यापी है । कबीर ने तीखी व्यंग्यात्मक शैली में कहा है -

"नां जाने साहब कैसा है ।

मुल्ला होकर बांग जो देवै, क्या तेरा साहब बहरा है ।

चीटी के पग नेवर बाजै, सो भी साहब सुनता है ।"[3]

कबीर काँजी को सत्य का हनन करके झूठ का आश्रय लेने वाला बताते हैं । ऐसी स्थिति में बन्दगी भी झूठी है और पाँच समय की नमाज भी व्यर्थ है -

"यह सब झूठी बंदिगी, बिरथा पंच निवाज ।

साँचे मारे झूठि पढ़ि, काजी करै अकाज ।।"[4]

---

1. कबीर ग्रन्थावली, सं0 श्याम सुन्दर दास, पृष्ठ - 206
2. भक्तमाल
3. कबीर : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ - 275
4. कबीर ग्रन्थावली, सं0 श्याम सुंदर दास, पृष्ठ - 33

संत कवि गुरु नानक देव ने समाज में व्याप्त आडम्बर युक्त एवं पाखण्डपूर्ण वाह्याचारों का विरोध अत्यन्त प्रबल स्वरों में किया है । उन्होंने भस्म लगाने वालों को उनका वास्तविक वेश न मानकर वाह्य वेश मात्र माना है । उनके अन्त:करण में अहंकार के साथ ही क्रोध रूपी चाण्डाल का निवास है । तीर्थ पर्यटन, व्रत उपवास, हठ क्रियाओं के करने वालों को पाखण्ड मानते हैं । पाखण्डों से न तो भक्ति सम्भव है और न ही भगवान की प्राप्ति-

"पाखण्ड भगति न होवई, परब्रह्म न पाइआ जाई ।"[1]

दादू दयाल ने भी वाह्याचारों का खण्डन किया । उन्होंने मांसाहारी मुसलमानों को निष्ठुर, अचेत, कपटी एवं कुकर्मी कहा है ।

निर्गुण संतों ने हिन्दू समाज में व्याप्त अनेक वाह्याचारों भेष, माला, तिलक, योगाचार, व्रत - नेम, उपवास तथा अन्य अंध विश्वासों पर आघात किया । इन सबके विषय में संतों ने जो कुछ कहा वह तर्क एवं युक्ति संगत है । संतों का खण्डन कोरी भावुकता पर आधारित न होकर बुद्धि की ठोस आधार भूमि पर आधारित है । यही कारण है कि इनके सम्मुख विरोधी पक्ष को निरूत्तर हो जाना पड़ता था ।

कबीर ने शैवों, वैष्णवों, शाक्तों, जैनों, चार्वाकों के तामसी आचरण

---

1. श्री गुरु ग्रन्थ साहब (महला 3) पृष्ठ - 846

को देखकर उन्हें पाखण्डी कहा एवं गोरखपन्थी योगियों पर भी प्रहार किये। इन्होंने सबके आचारों की आलोचना की । संतों ने तत्कालीन समाज में प्रचलित अंधविश्वासों पर इसलिए प्रहार किये कि वे उन सभी अंध विश्वासों से समाज को मुक्त कर देना चाहते थे । कबीर ने इन अंध विश्वासों की निरर्थकता का सजीव प्रमाण प्रस्तुत कर काशी छोड़कर मगहर जा बसे । धर्म परायण लोगों का विश्वास था कि काशी में मृत्यु होने से स्वर्ग तथा मगहर में मृत्यु होने से नरक का वास मिलता है । कबीर स्पष्ट कहते हैं - "जैसा मगहर तैसी कासी, हम एकै करि जानी ।"[1] केवल काशी में हुई मृत्यु स्वर्ग प्राप्ति का कारण नहीं बन सकती -

"लोका तुम हौ मति के भोरा ।
जौ कासी तनु तजहिं कबीरा तौ रामहिं कौन निहोरा ।।
कहै कबीर सुनहु रे लोई, भरम न भूलहु कोई ।
क्या कासी क्या मगहर ऊखर हृदय राम जो होई ।।"[2]

कबीर ने श्राद्ध आदि लोकाचारों का खण्डन किया । कबीर के विचार में जीवित रहते तो बड़ों को लोग सम्मान नहीं देते किंतु मृत्यु के बाद लोग उनके नाम पर श्राद्ध करते हैं । यह व्यर्थ का दिखावा है, क्योंकि श्राद्ध के नाम पर समर्पित अन्न तो कौवे या कुत्ते खा जाते हैं -

---

1. कबीर ग्रन्थावली - सं0 श्याम सुन्दर दास, पृष्ठ-226

2. कबीर ग्रन्थावली, सं0 डॉ0 पारसनाथ तिवारी, पद-200, पृष्ठ-116

"जीवत पितर न मानै कोउ, मुए सराद्ध कराहीं ।

पितर भी बपुरे कहु क्यों पावहिं, कौवा कूकर खाहीं ।।"[1]

धर्म कें नाम पर प्रचलित किसी भी अंध विश्वास को स्वीकारना संतों के स्वभाव में नहीं है । ये संत जानते थे कि उपवास, व्रत आदि करने वाले मात्र परम्पराओं का पालन करते हैं । ऐसी परम्पराओं को संतों ने खण्डन किया । संतों ने पाखण्डियों के मिथ्या भ्रमजाल में फँसना मूर्खता माना है। योगी भगवान की प्राप्ति के लिए सिर पर वर्षा, गर्मी एवं सर्दी को सहन करता है, कठिन तपस्या करता है । योग व्रत का पालन करता है, तीर्थों में भटकता है । देवी-देवताओं की पूजा अर्चना करता है किन्तु यह नहीं जानता कि जुगनू के प्रकाश से अन्धकार पूर्ण रात्रि प्रकाशित नहीं हो सकती। सगुण साकार ब्रह्म की पूजा अर्चना सम्बन्धी इन्हीं आडम्बरों को देखते हुए निर्गुण संतों ने सगुण की जगह निर्गुण ब्रह्म की आराधना पर बल दिया।

कबीर ने पवित्रता एवं बड़प्पन का ढ़ोंग रचने वाले पीर औलिया की पोल खोल दी । उन्होंने देखा कि हिन्दू मुसलमान दोनों अपने पथ से भ्रष्ट हो रहे हैं । कबीर ने हिन्दू एवं मुसलमान दोनों को फटकार लगाई -

---

1. कबीर ग्रन्थावली, सं0 श्याम सुंदर दास, पृष्ठ-22।

"अरे इन दोउन राह न पाई
हिन्दू अपनी करै बड़ाई, गागर छुवन न देई ।
वेस्या के पायन तर सोवै, यह देखो हिन्दुआई ।।
मुसलमान के पीर औलिया, मुर्गी मुर्गा खाई
खाला केरी बेटी ब्याहै, घर में ही करै सगाई ।।"[1]

इस प्रकार कबीर ने दोनों धर्मों की बुराइयों का पर्दाफाश किया । गुरुनानक देव ने भी दोनों सम्प्रदायों के पाखण्डों पर तीव्र प्रहार किया । उनका कहना है कि दोनों कुमार्गी हैं क्योंकि उन्होंने प्रत्यक्ष देखा कि ऊपर से दोनों धर्म के अनुयायी बनते हैं किंतु अन्दर से दोनों धर्म से विरत हैं । एक ओर मनुष्य - भक्षक, नमाज पढ़ने का अधिकारी बना था तो दूसरी ओर अत्याचारी हिन्दू जनेऊ धारण किये हुए था - "माणस खाणे करहिं निवाज, छुरी बगाइन तिन गलि ताग ।"[2]

संत साधकों ने उस काल में प्रचलित वाह्याचारों के खण्डन के साथ-साथ उन आडम्बरों के वास्तविक अर्थ को भी समझाया है । इस प्रकार सच्चे धर्म अर्थात् मानव धर्म का उपदेश दिया । ये संत जानते थे कि जन-सामान्य भ्रम की स्थिति में है । उनके आचारों की विकृति का कारण उनका

---

1. संत सुधासार, खण्ड-1, पृष्ठ - 109
2. गुरुग्रन्थ साहिब, पृष्ठ-47।

अज्ञान है । अतः इस अज्ञान को दूर करने के लिए उपदेश देने में पीछे नहीं रहे । केवल खण्डन से विशेष लाभ न देखकर, उन्होंने अपने सिद्धान्तों को नया मोड़ दिया तथा लोगों को नया मार्ग एवं मनोबल प्रदान दिया । कबीर ने "बाहरि ढूँढ़ै बावरे जटा बंधाये केस" कहकर जटा धारियों पर प्रहार किया किन्तु बाद में उसका समाधान तर्क पूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया-

"केसों कहा बिगारिया, जे मूंड़ो सौ बार ।
मन को काहे न मूंड़िये, जामै बिषै विकार ।।"[1]

केश मुंडाने से कोई सन्यासी नहीं बन जाता । सन्यास का सम्बन्ध हृदय से है, वाह्य भेष-भूषा से नहीं । समस्त दूषण मन में भरे पड़े हैं इसलिए मन को मूंड़ना चाहिए -

"मन मैवासी मूंड़ि ले, केसों मूंडे कांइं ।
जो कुछ किया सु मन किया, केसों कीया नांहि ।"[2]

निर्गुण संतों के खण्डनों या उपदेशों में सम्बोधित पांडे एवं काजी, हिन्दू एवं मुसलमान के प्रतीक नहीं है । पांडे से संतों का तात्पर्य पोथीपत्रा धारी ऐसे पाखण्डी लोगों से है जिनके पास नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्ति का अभाव है । इसी प्रकार काजी से इनका अभिप्राय ऐसे मुसलमान से है

---

1. कबीर ग्रन्थावली, सं0 श्याम सुंदरदास, पृष्ठ - 36
2. वही, पृष्ठ - 36

जो केवल बांग देता है, हलाल करता है एवं भोले-भाले अनुयायियों को अल्लाह के नाम पर हिंसा एवं दुष्कर्मों की शिक्षा देता है । निर्गुण संतों के कटाक्षों का लक्ष्य कोई हिन्दू या मुसलामन विशेष धर्म से नहीं है । निर्गुण संत समाज की पतित अवस्था से चिंतित थे । संतों ने सामाजिक ऊँच-नीच को बढ़ावा देने वालों को फटकारा ।

निर्गुण संतों ने अन्तः साधना पर बल दिया । इससे मानव व्यर्थ के उन आडम्बरों से बच सकता है जो मानव को मानव से अलग कर देते हैं । आचारों की विभिन्नता समाज में विश्रृंखलता का सूत्रपात करती है और इनका परित्याग मानव के साथ-साथ समाज की पावनता एवं सुचिता का साधन बनती है ।

हिन्दू - मुसलमान : साम्य भावना :-

मध्ययुगीन संकीर्णता के युग में, जबकि समाज के दोनों अंगों - हिन्दू और मुसलमान के मध्य वैमनस्य की खाई चौड़ी होती जा रही थी, निर्गुण संतों ने उसे कम करने का प्रयास किया । निर्गुण संतों ने स्पष्ट रीति से सामाजिक एकता का भाव जगाया था, जिसमें जाति भेद, वर्ण भेद, धर्म भेद को कोई स्थान नहीं था । उन्होंने धर्म भेद को भी संघर्ष का एक प्रमुख कारण समझा और प्रगतिमय पन्थ का सुझाव दिया -

"कहै कबीरा दास फकीरा, अपनी राह चलि भाई

हिन्दू तुरुक का करता एकै, ता गति लखी न जाई ।"[1]

संतों ने दोनों धर्मों की आन्तरिक एकता को रेखांकित किया और उनके ऊपरी भेदों को नकारा । कबीर कहते हैं - "किरतिम सुन्नति और जनेऊ, हिन्दू तुरुक न जाने भेऊ"[2] वे सावधान करते हुए कहते हैं कि कोई भूलकर भी इस भ्रम में न पड़े कि हिन्दू एवं मुसलमान में कोई अन्तर है । हिन्दुओं एवं मुसलामनों के पारस्परिक भेदभाव झूठे हैं -

"भूले भरमि परे मति कोई, हिन्दू तुरुक झूठ कुल दोई ।"[2]

संत साधकों ने मनुष्य मात्र को समान समझते हुए राम-रहीम का भेदभाव नहीं रखा । डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने लिखा है - "उस समय की यही माँग थी कि हिन्दू एवं मुसलमान अड़ोसी - पड़ोसी की भाँति प्रेम एवं शान्ति से रहें और इन उदार चेताओं को भी इस आवश्यकता का स्पष्ट अनुभव हुआ था । दोनों जातियों के दूरदर्शी विरक्त महात्माओं को जिन्हें जातीय पक्षपात छू नहीं गया था, जिनकी दृष्टि तत्काल के हानि-लाभ, सुख-दुख, हर्ष-विषाद से परे जा सकती थी, इस आवश्यकता का सबसे तीव्र अनुभव हुआ ।"[3]

---

1. कबीर ग्रन्थावली, सं0 पारसनाथ तिवारी, पृष्ठ - 120
2. वही, पृष्ठ - 121
3. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय-डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ0-15

दादू दयाल ने स्पष्ट कहा कि हिन्दू एवं मुसलमान दोनों ही अपने मार्गों को श्रेष्ठ घोषित करते हैं किन्तु आवश्यकता है कि दोनों को सच्चे पन्थ की पहचान करनी चाहिए । इनके अनुसार जिस प्रकार शरीर के नाना अंग परस्पर अलगाव की भावना रखकर निर्वाह नहीं कर सकते, वही स्थिति हिन्दू एवं मुसलमान की है -

"दोनो भाई हाथ पग, दोनों भाई कान
दोनो भाई नैन हैं, हिन्दू मुसलमान ।"[1]

सभी संत कवियों ने हिन्दू तुर्क के नाम पर प्रचलित भेदभाव का तीव्र विरोध किया है । दरिया साहब प्रश्न करते हैं कि जब "एक जोइनि सबै जनमाया" तो फिर यह कृत्रिम भेदभाव क्यों ? सम्प्रदाय एवं धर्म के नाम पर होने वाले अनर्थों को इन्होंने पाखण्ड का नाम दिया एवं कहा कि "पाखण्ड से प्रभु मिलै न काहूँ ।" पलटू साहब ब्राह्मणों से प्रश्न करते हैं कि यदि तुम्हारे ब्राह्मणत्व का प्रतीक यज्ञोपवीत है तो इसका तात्पर्य है कि आधी शूद्रा तुम्हारे घर में वास करती है क्योंकि तुम्हारी पत्नी के गले में कोई जनेउ नहीं है - "ब्राह्मन तो भये जनेउ को पहिरि के, बाम्हनी के गले कुछ न देखा"[2] इस प्रकार निर्गुण संत साधकों ने हिन्दू-मुसलमान दोनों धर्मों की रुढ़ियों को उजागर कर दोनों के मध्य प्रेम एवं सहनशीलता का वातावरण

---

1. संत सुधासार (दादू दयाल) खण्ड-1, पृष्ठ-405
2. संत सुधासार, खण्ड-2, पृष्ठ 243

तैयार किया। निर्गुण संतों को हिन्दुओं के हिन्दुत्व एवं मुसलमानों की इस्लामियत से कोई विरोध नहीं था । ये सामाजिक विषमता एवं समाज में व्याप्त धार्मिक रुढ़ियों से व्यथित हुए थे और गहरी वेदना के साथ इन्होंने ये उद्‌गार प्रकट किये । संत साधक सामाजिक एकता के पुजारी एवं अखण्डता के सच्चे प्रहरी थे, इसीलिए ये एक ही समाज के व्यक्तियों को भिन्न-2 ईकाइयों के रूप में देखने के विरोधी थे ।

कथनी-करनी में साम्यता पर बल:-

कथनी-करनी की एकता ही श्रेष्ठता और सफलता की कसौटी है । व्यक्ति की कथनी और करनी में जितना अधिक सामन्जस्य होता है, वह सामाजिक दृष्टि से उतना ही श्रेष्ठ एवं महान् होता है । निर्गुण संतों की वाणी एवं व्यावहारिक आचरण में एकता थी । अपने जीवन का प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत कर इन्होंने समाज के सम्मुख आदर्श प्रस्तुत किया । कबीर ने कहा भी है कि कथनी खांड़ के समान मीठी होती है किन्तु करनी विष के समान कड़वी होती है । यदि व्यक्ति कथनी को त्याग कर करनी पर बल दे तो विष भी अमृत का रूप धारण कर लेता है - "कथनी मीठी खांड़ सी, करनी विष की लोय । कथनी तज करनी करै, तो विष से अमृत होय।।"[1] कुछ लोग ऐसे होते हैं जो दूसरे के अनुभवों को अपने उपदेशों में उद्धृत

---

1. संत बानी संग्रह (कबीर), भाग-1, पृष्ठ-47

करते हैं किन्तु कबीर ऐसे उपदेशों को जरा भी महत्व नहीं देते । उनके अनुसार महत्व उसी बात का है जो अपने अनुभव में आ चुकी हो । केवल सिद्धान्त कथन का कोई अर्थ नहीं होता है । उस कथनी कोई मूल्य नहीं है जो करनी पर खरी न उतरे -

कथनी कथी तो क्या भया जौ करनी नांठहराय ।

कालबूत के कोट लौ देखन ही ढहि जाय ।।[1]

संसार में कोरा उपदेश देने वाले बहुत हैं किंतु सच्चे अर्थों में उपदेशों को ग्रहण कर उसके अनुसार आचरण करने वालों की संख्या बहुत कम है । जो मात्र कथन जानता है, आचरण करना नहीं जानता, उसका कथन मूल्यहीन है -

"कहता तो बहुता मिला, गहता मिला न कोइ ।

सो कहता बहि जान दे,जो नहिं गहता होइ ।।"[2]

जिनके कथन एवं कर्म में अन्तर होता है वे समाज में अविश्वसनीय समझे जाते हैं । दादू कहते हैं -

"दादू कथणी और कुछ, करणी करै कुछ और ।

तिन थे मेरा जीव उरै, जिनके ठीक न ठौर ।।"[3]

---

1. संत सुधासार, खण्ड-1, पृष्ठ-143

2. वही, पृष्ठ - 143

3. संत वाणी संग्रह, भाग-1, पृष्ठ - 93

कथनी एवं करनी का सामंजस्य निर्गुण संतों की दृष्टि में समाज के विकास के लिए आवश्यक है ।

कबीर का युग बोध : सामाजिक न्याय एवं समता के संदर्भ में:-

सामाजिक प्राणी होने के कारण व्यक्ति समाज से असम्पृक्त रहकर जीवनयापन नहीं कर सकता । मनुष्य अपने सामाजिक परिवेश से प्रभावित होता है । काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति एक स्वाभाविक प्रक्रिया है । जहाँ एक ओर कवि अपने काव्य में सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों को उजागर करता है - वहीं दूसरी ओर समाज को नई दिशा दिखाने का महत्वपूर्ण कार्य भी करता है । युग की चेतना को अभिव्यक्त करने वाला कवि ही वस्तुतः युग प्रतिनिधि कहलाता है ।

इतिहास समाज से प्रभावित होता है और समाज व्यक्ति द्वारा संचालित होता है । किसी समाज का इतिहास उस काल विशेष की सीमा में मर्यादित नहीं, उसकी दीर्घकालीन परम्परा होती है । पारस्परिक अन्तर्भाव और अन्तरावलम्बन के कारण कोई काल विभाग नितान्त विच्छिन्न और निरपेक्ष नहीं रह जाता । भौतिक जीवन की सुविधा-असुविधा का व्यापक प्रभाव समाज के विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों का निर्धारण करता है ।[1]

---

1. राम खेलावन पाण्डे : मध्यकालीन संत साहित्य, प्रस्तावना, पृष्ठ-3

सभी संत कवियों, विशेषकर कबीर ने सामान्य जन समाज के भीतर से, परम्परा से प्राप्त विचार और अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि के आधार पर मनुष्य के मन में मनुष्य मात्र के अस्तित्व बोध की भावना जागृत करने में सक्षम रहे । कबीर अपने साधारण से जीवन में भी असाधारण संकल्प शक्ति के कारण युग प्रतिनिधित्व कर सके । कबीर अपने युग की परिस्थितियों से परिचित थे । स्वयं आर्थिक विपन्नताओं और सामाजिक दबावों में कार्यशील रहते हुए उन्होंने सक्रिय एवं जीवन्त दृष्टिकोण का परिचय दिया । कबीर काव्य शास्त्रानुमोदित न होकर 'आखिन देखी' और प्राथमिक प्रामाणिक अनुभवों पर आधारित है । कबीर उपेक्षित, तिरस्कृत जन समाज के बीच से उठ खड़े हुए साधारण मानव थे । इसलिए अपने आस-पास के सामाजिक परिवेश के प्रति वह अधिक जागरूक थे । "सन्त साहित्य शोषण से त्रस्त जनता की आकांक्षा को प्रकट करता है कि ऐसे समाज का निर्माण हो जिसमें ऊँच-नीच का भेद न हो, जिसमें सताने वाला राजा न हो और समाज व्यवस्था का आधार प्रेम हो ।"[1]

कबीर ने समाज के विभिन्न वर्गों के परस्पर संबंधों, सामाजिक विसंगति - विरोध के बीच सूत्रबद्धता, व्यक्ति एवं समाज के बीच सामंजस्य की भावना, आर्थिक विषमताओं को सहते हुए भी नैतिकता बनाये रखना,

---

1. संत साहित्य और समाज : रमेशचन्द्र मिश्र, पृष्ठ-24

अभावजन्य परिस्थितियों में संतुलन, सामाजिक एवं मानसिक विसंगतियों को सहते हुए भी हीनता का अनुभव न करना आदि बातों का सजीव अंकन अपनी वाणी द्वारा किया है । समाज का यथार्थ अंकन कबीर ने अपने साहसी और निर्भयतापूर्ण दृष्टिकोण द्वारा किया है । समाज में व्याप्त क्रूर एवं विषम वातावरण में भी वे अपना विरोध स्वर प्रकट करने का चारित्रिक साहस बनाये रहे - "मैं कहता हौं आखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी"[1] कबीर का लक्ष्य वैयक्तिकता की भावना को सामाजिकता की भावना में विलय करना था ताकि मानव जाति के अन्दर बहुजनहिताय की भावना पनप सके। कबीर के समाज में व्याप्त असन्तुलन, विषमता, असंगति, वर्ग तथा जाति भेद की भावना उसके 'बहुजन हिताय' के लक्ष्य में रुकावट थी । कबीर ने जनसमुदाय में आत्मपरक चेतना जागृत करके, जनमानस में लोक मंगलकारी बोध की भावना पैदा करने का सराहनीय कार्य किया । कबीर मानव समाज के अन्दर आस्था का बीजारोपण करके एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते थे जिसमें परिवेश जन्य कोई भय न हो, सह अस्तित्व की भावना हो । परिश्रम एवं कर्तव्य के प्रति निष्ठा की भावना हो इसी, उद्देश्य को पूरा करने के लिए कबीर ने अपनी वाणी द्वारा समाज में व्याप्त विषमता को दूर करने का प्रयास किया - "ध्वंसावशेषों को साफ करना और नूतन के अंकुर को पोषित करना, अर्थशास्त्र तथा राजनीति की दृष्टि से ही नहीं

---

1. कबीर ग्रन्थावली, (सं0) श्याम सुन्दर दास, पृष्ठ - 163

वरन् मानवतावादी दृष्टि से भी अतीव महत्वपूर्ण कार्य थे ।"[1]

'साहित्य जीवन की समीक्षा है" - संत साहित्य पर यह बात पूर्णतः लागू होती है । संत काव्य लोक करुणा, लोक संवेदना और लोकमंगल की भूमिका में प्रतिष्ठित है । "साहित्य सामाजिक मंगल का विधायक है। यह सत्य है कि वह व्यक्ति विशेष की प्रतिभा से रचित होता है । किन्तु यह भी सत्य है कि प्रतिभा सामाजिक प्रगति की ही उपज है ।"[2]

कबीर ने तत्कालीन जनजीवन में व्याप्त संघर्ष, शोषण, सामन्ती प्रवृत्ति और रुढ़ियों का विरोध किया - कबीर की विचारधारा धर्म जाति अथवा समाज विशेष तक सीमित नहीं थी - उसमें मानव मात्र के कल्याण की भावना थी । इस भावना ने समाज के नैतिक और धार्मिक दोनों प्रकार के उत्थान ने सहयोग किया ।"[3] अपने सामाजिक परिवेश में कबीर ने एक ओर रुढ़ि आडम्बरों से मुक्ति दिलाने का प्रयत्न किया तो दूसरी ओर भय, आतंक के उस वातावरण में आस्था, विश्वास का संचार करते हुए निडर, निर्भय होने की प्रेरणा दी । कबीर ने अन्धविश्वासों, रुढ़ियों में जकड़ी मानव जाति की सुप्त चेतना को जगाने का प्रयास किया । कबीर के विचारानुसार

---

1. समाज और संस्कृति : श्यामाचरण दुबे, पृष्ठ - 62
2. विचार और वितर्क, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ - 278
3. कबीर साहित्य और सिद्धान्त : यज्ञदत्त शर्मा, पृष्ठ - 127

कर्मकाण्ड एवं मिथ्याचार मनुष्य - मनुष्य के बीच भेदभाव पैदा करते हैं। समानता का विचार ही मानव जाति को मुक्ति दिला सकता है - "इन संतों की वाणी का प्रभाव उपेक्षित समाज पर गहराई से पड़ा है । किन्तु वाणी में हृदय की सच्चाई होने के कारण, उच्च वर्ग के श्री सम्पन्न लोग भी संत विचारों के प्रति आकृष्ट होते रहे हैं, जिससे समाज में स्त्रियों के प्रति हीन दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आया है । संतों के विचार से प्रभावित होकर बाद के सभी छोटे बड़े लोगों ने समाज सुधार के कार्य भी अपनाये हैं और हिन्दू मुस्लिम वर्गों के निकट सम्पर्क की आकांक्षा को बलवती बनाया है ।"[1] कबीर ने एक स्वस्थ चिंतनधारा को प्रवाहित किया । कबीर ने जनसामान्य में भेदभाव विहीन सहज धर्म और सामाजिक नियमों को ठोस ढाँचा खड़ा किया, जिससे जनता के नैतिक जीवन में सुधार की प्रवृत्ति जागृत हुई । कबीर मानव मात्र के प्रेमी थे - "इसी मानवीय प्रेम के कारण संत वाणी में जहाँ एक ओर सदाचार, सदाशयता, समता भावना की प्रधानता है तो दूसरी ओर रुढ़ि, अज्ञानान्धता का विरोध एवं अत्याचार - अनाचार शोषण आदि का प्रतिरोध भी है । इसलिए यह वाणी लोक अभ्युदय और धरती की खुशहाली की वाणी है ।"[2]

कबीर का विचार था कि साम्प्रदायिकता, छुआछूत, ऊँचनीच जैसी

---

1. संत साहित्य और समाज : डा0 रमेश चन्द्र मिश्र, पृष्ठ - 67

2. वही, पृष्ठ - 68

विचारधारायें वर्ग संघर्ष को उत्पन्न करती हैं तथा सामाजिक विकास के मार्ग को अवरुद्ध करती हैं । सामाजिक चेतना कबीर काव्य का आधार स्तम्भ है । सामाजिक कुरीतियों के निराकरण के लिए कबीर ने क्रान्ति का सहारा लिया । कबीर क्रान्ति की प्रतिभूति थे । वाह्याडम्बर एवं असत्य के प्रति उत्पन्न प्रखर प्रतिक्रिया ही उनकी क्रान्ति का आधार थी । अपनी ओजस्वी वाणी द्वारा कबीर ने धर्म, समाज आदि क्षेत्रों में व्याप्त कलुषों को धो दिया- "कबीर दास एक जबरदस्त क्रान्तिकारी पुरुष थे । उनके कथन की ज्योति जो इतने क्षेत्रों को उद्भाषित कर सकी है वो मामूली भक्तिमत्ता की परिचायक नहीं है । कबीर की सच्ची महिमा तो कोई गहरे में गोता लगाने वाला ही समझ सकता है ।"[1]

कबीर का सम्पूर्ण जीवन सत्यानुभूति एवं सत्य के प्रचार में व्यतीत हुआ । भारत के स्वतंत्र विचारकों में उनका महत्वपूर्ण स्थान है । कबीर की सहज भावना जनहित की भावना थी । दलित, पिछड़े वर्गों के उत्थान का सन्देश दिया। सम्पूर्ण मानव जाति को उन्होंने एक सम्भावना का मार्ग सुझाया । कबीर ने त्याग, तपस्या, सदाचार, समता और सद्भावना का वह साम्यवादी रूप समाज के समक्ष रखा जिसमें जनहित की भावना के साथ-साथ मानव की वाह्य और आन्तरिक शांति निहित थी ।

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृष्ठ - 222

सकारात्मक सामाजिक परिवर्तनों के रास्ते में आने वाली निष्प्राण कुरीतियाँ और संस्कृति को पंगु बनाने वाले तत्व कबीर के व्यंग्य एवं विद्रोह का निशाना बने हैं । कबीर की वाणी एवं व्यवहार में जो रचनात्मक अखण्डता मिलती है वह अत्यन्त दुर्लभ है । कबीर के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी पहचान उनके ईमानदार स्पष्ट वक्ता होने की है - "हम कबीर को मध्ययुग का सबसे बड़ा जनवादी विचारक मानते हैं, जिसने जनता के बीच की अनेक दीवारों को गिराकर समाज में एक समतलता लाने का प्रयास किया"[1] कबीर अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व में मानवीयता के पक्षधर रहे हैं- "गहरे मानवीय सरोकार उनके काव्य में झलकते हैं - कबीर युगावतार की शक्ति और विश्वास लेकर पैदा हुए थे और युग प्रवर्तक की दृढ़ता उनमें विद्यमान थी, इसलिए वह युग प्रवर्तन कर सके थे ।"[2] अपने स्वाधीन एवं निर्भीक विचारों से उन्होंने सुधार का नवीन मार्ग विकसित किया । उनकी समदृष्टि ने ही उन्हें सार्वजनिक एवं सार्वभौम बनाया - 'हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ ।"[3] सही अर्थों में कबीर ऐसे काल-दर्शी कवि हैं जो सामाजिक न्याय और समता को अपने युग में देखना चाहते हैं ।

---

1. कबीर साहित्य और सिद्धान्त : यज्ञदत्त शर्मा, पृष्ठ - 139
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृष्ठ - 177
3. वहीं, पृष्ठ - 222

"कबीर की प्रगतिशीलता":-

हिन्दी साहित्य के इतिहास में कबीर सम्भवतः पहले प्रगतिशील कवि हैं । कबीर की प्रगतिशीलता केवल सिद्धान्तों पर आधारित नहीं है, बल्कि इसी जमीन की उपज है । दार्शनिक अवधारणा की दृष्टि से देखने पर भी मार्क्सवादी काल की अवधारणा से कबीर का वैशिष्ट्य स्पष्ट है । मार्क्सवाद भौतिकवादी दर्शन है, इसलिए उसमें 'टाइम' एवं 'स्पेस' के चक्राकार गति वाले विकास को स्वीकार नहीं किया जाता । मार्क्सवाद भी अन्य भौतिकवादी दर्शनों की भाँति काल के समरैखिक विकास को स्वीकार करता है । इसके समानान्तर भारतीय दर्शन के काल की अवधारणा के अनुसार जो सबसे बेहतर था, पहले बीत चुका, उससे कम अच्छा त्रेता, उसके बाद बीता द्वापर युग, उसके बाद आया और अब जिस काल में हम रह रहे हैं, वह सबसे अधिक असहनीय, निकृष्ट, मानवीय मूल्य की दृष्टि से अधोगति को प्राप्त काल है । दूसरी ओर मार्क्सवादी दर्शन यह स्वीकार करता है कि जब भी विकास होगा, अपने से बेहतर स्थिति में होगा । समाज विकास की जो द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है - उसमें संघर्ष के द्वारा हम नया समाज और नया काल निर्मित करेंगे तो वह पूर्व के मानवीय, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक सम्बन्धों से बेहतर समय और समाज होगा । यद्यपि दोनों विचारधाराओं में भिन्नता है तथापि भारतीय दर्शन की भाँति मार्क्सवादी दर्शन में भी जीवन को सार्थक, समाजोपयोगी, लोकोन्मुख और संघर्षशील बनाने की प्रेरणा मानव समाज को दी गई है ।

भारतीय दर्शन के अनुसार मनुष्य को अपने नश्वर एवं क्षणभंगुर शरीर एवं समय का यथासम्भव उपयोग करना चाहिए जबकि मार्क्सवाद यह मानकर चलता है कि प्रगति किसी देवता का दिया हुआ अलौकिक वरदान नहीं है बल्कि वह स्वयं मनुष्य के संघर्ष के द्वारा मुक्ति की आशा पर विश्वास रखता है । जहाँ सामाजिक संघर्ष पर विश्वास किया जाता है वहाँ समाज का सपना शोषक एवं अन्यायी तंत्र को चुनौती देना होता है । यही चुनौती हमें कबीर के काव्य में दृष्टिगत होती हे । कबीर वैयक्तिक धरातल पर मुक्ति की बात नहीं करते । उनके यहाँ अलौकिक और आध्यात्मिक मुक्ति के अर्थ सार्वभौमिक मनुष्य से प्रत्यक्ष जुड़े हैं । वह समाज के अन्दर मनुष्य की मुक्ति चाहते हैं । आर्थिक शोषण, राजनीतिक दमन, सामाजिक रूढ़ियों और सांस्कृतिक ठहराव से मनुष्य और सम्पूर्ण समाज की चिंता करते हैं । वह बार-बार समाज के लिए स्वयं को उत्सर्ग करने की बात करते हैं - "कबिरा खड़ा बाजार में लिये लुकाठी हाथ" या "सीस उतारे भुईं धरे"- ये तमाम बातें सामाजिक मुक्ति के विचार से जुड़ी हैं । कबीर काव्य में मुक्ति के विचार से तात्पर्य है समाज के प्रत्येक आदमी का कल्याण । इस संदर्भ में लोकोन्मुख भक्तिधारा के कबीर आदि महान् संत कवियों का गम्भीर चिंतन आज भी प्रासंगिक है और व्यापक मानवीय अर्थों में प्रगतिशील है ।

निर्भीक होकर सच कहने का क्रान्तिकारी तेवर कबीर के सामाजिक सुधारवाद का अंग है । कबीर का क्रान्तिकारी सुधारवाद समाज निरपेक्ष

शाब्दिक नारेबाजी नहीं है बल्कि उसकी लोक से गहरी सम्पृक्ति है । कबीर का काव्य इसका प्रखर साक्ष्य है ।

सकारात्मक सामाजिक परिवर्तनों के रास्ते में आने वाली निष्प्राण कुरीतियाँ और संस्कृति को पाखण्ड बनाने वाले असामाजिक दबाव समूह कबीर के व्यंग्य का निशाना बने हैं । कबीर की सामाजिक चिंता उनकी आचरणगत ईमानदारी का परिणाम है । यही विशेषता कबीर के ईमानदार स्पष्ट वक्ता होने का प्रमाण है । इसी कारण हिन्दी जगत् में कबीर को प्रथम विद्रोही और आधुनिक कवि माना जाता है । ऊँच-नीच का कृत्रिम भेद और धर्माडम्बर का खण्डन करती कबीर की तीखी टिप्पणी जातिवाद तथा वर्गवाद से रहित है । अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं कृतित्व में कबीर मानवीयता के पक्षधर हैं । उनके काव्य में गहरे मानवीय सरोकार झलकते हैं । द्विवेदी जी लिखते हैं - "कबीर युगावतार की शक्ति और विश्वास लेकर पैदा हुए थे और युग प्रवर्तक की दृढ़ता उनमें विद्यमान थी, इसलिए वह युग प्रवर्तन कर सके ।"[1] वर्ग एवं वर्ण की असंगतियों से रहित समाज की परिकल्पना कबीर काव्य में मिलती है - "कबीर ने भारतीय जनता में भेदभाव विहीन सहज धर्म और सामाजिक नियमों का जो ढाँचा खड़ा किया उससे जनता को बल मिला, उसके नैतिक जीवन में सुधार की प्रवृत्ति जागरूक

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृष्ठ - 177, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

हो उठी और सभी में, अपने जीवन, अपने समाज और अपने धर्म के प्रति स्वतंत्र रूप से विचार करने की प्रवृत्ति ने जन्म लिया ।"[1] संस्कृति के प्रति यह वैज्ञानिक दृष्टि है ।

प्रगतिशील दृष्टि अपनाकर कबीर मनुष्य को मनुष्य के करीब लाना चाहते थे । कबीर काव्य सच्चा मानवतावादी काव्य है जो मनुष्य के विकास का मार्ग प्रशस्त करता है । कबीर ने अपनी प्रगतिशीलता का परिचय देते हुए ऐसे समाज की स्थापना की जिसमें सह अस्तित्व की भावना हो । परिवेशजन्य कोई भय उनके मन में न हों । कबीर ने जन सामान्य के आन्तरिक विश्वास एवं आचरणगत पवित्रता को महत्व प्रदान किया । उन्होंने एक ओर सामाजिक परिवेश से जकड़े मानवों को रुढ़ि आडम्बरों से मुक्ति दिलाने का प्रयास किया तो दूसरी ओर भय आतंक के वातावरण में आस्था और विश्वास का संचार करते हुए निर्भय होने की प्रेरणा दी । कबीर ने जन चेतना का मन्थन करते हुए नवीन विचारों को समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया । उनका उद्देश्य आचरण की श्रेष्ठता द्वारा मनुष्य की चेतना का उत्कर्ष करना है । समता का यह विचार आधुनिक प्रगतिवादियों को भी पीछे छोड़ देता है जिसके द्वारा कबीर ने समाज के प्रत्येक वर्ग में मुक्ति की नवीन भावना जागृत की थी - "कबीर जनता का विचारक, जनता का

---

1. कबीर साहित्य और सिद्धान्त : यज्ञदत्त शर्मा, पृष्ठ - 133

धर्माचार्य, जनता का सुधारक एवं जनता का प्रतिनिधि था । उनकी वाणी के शब्द-शब्द से जनहित की भावना झंकृत होती थी ।"[1]

कबीर का संदेश व्यक्ति या जाति विशेष के लिए न होकर सम्पूर्ण मानव जाति के लिए था । कबीर हिन्दी साहित्य के महान् प्रगतिशील कवि हैं, जिन्होंने समाज में व्याप्त शोषण और अन्याय की दीवारों को गिराकर समता लाने का सार्थक प्रयास किया । रूढ़िवादी विचारों के प्रति जोरदार आवास उठाई और मानव का सच्चे अर्थों में पथ प्रदर्शन किया ।

---

1. कबीर साहित्य और सिद्धान्त : यज्ञदत्त शर्मा, पृष्ठ - 138
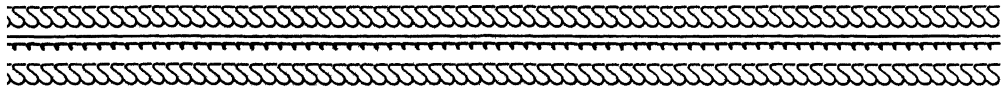
षष्ठ अध्याय

सगुण एवं निर्गुण काव्यधारा के बीच मूल्य संघर्ष का स्वरूप
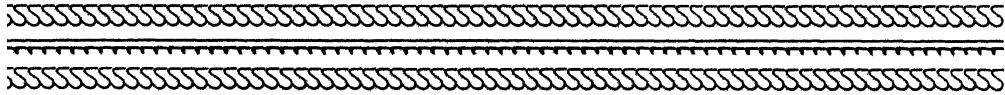
सगुण एवं निर्गुण काव्य धारा के बीच मूल्य संघर्ष का स्वरूप

मध्ययुगीन भक्त कवियों की रचनायें ईश्वर के प्रति उनके प्रेम-विह्वल उद्गारों की अभिव्यक्ति है । इन रचनाओं का वैचारिक धरातल एक नहीं है क्योंकि भक्त कवियों की दार्शनिक मान्यताओं में विभिन्नता थी । भक्तिपूर्ण उपासना के लिए दो प्रकार के रूप स्वीकृत थे-एक निर्गुण-निराकार रूप एवं दूसरा सगुण-साकार रूप ।

अधिकांश निर्गुणिया संत निरक्षर थे अतः उनके दार्शनिक विचारों का आधार शास्त्र ज्ञान नहीं था । निर्गुण साधकों का ज्ञान उनकी अनुभूति का ही प्रतिफल है । अनुभूति के आधार पर निर्गुण संतों का ज्ञान इतना प्रमाणिक एवं पुष्ट है कि वह शास्त्र ज्ञान पर भारी पड़ता है । निर्गुण संतों ने वेद पुराण की निन्दा की है, उसका मुख्य कारण यह था कि तत्कालीन धर्म की आड़ में जो अन्धविश्वास फैले हुए थे उसके पीछे वेद, पुराणों एवं शास्त्रों का आश्रय ग्रहण किया जाता था । दूसरी तरफ सगुण साधकों ने शास्त्रों का आधार लेकर उस ब्रह्म की भावना की पुष्टि की है ।, वेद, उपनिषद् एवं पुराणों को तुलसीदास ने बार-बार उद्धृत किया है । इन्होंने भूमिका में ही लिखा है कि राम वही ब्रह्म हैं, जिनका वेदों ने नेति-नेति कहकर निरूपण किया है - "नेति-नेति जेहि वेद निरूपा, निजानंद निरूपाधि अनूपा"[1] ।

---

1. रामचरित मानस, बालकाण्ड, पृष्ठ - 75

यह वही राम है जिनका वेद और ज्ञानी पुरुष गायन करते हैं - "जेहिं इमि गावहिं वेद बुध, जाहिं धरहिं मुनि ध्यान ।"[1] कृष्ण भक्ति साहित्य में धर्मशास्त्रों का आधार ग्रहण किया गया है । सूरदास ने 'सूरसागर' के प्रारम्भ में ही कहा है कि यह नन्द की रस्सी से बँधने वाले कृष्ण वही परब्रह्म है; जिन्हें वेद और उपनिषद् निर्गुण ब्रह्म बताते हैं - "वेद उपनिषद जासु कौ, निरुगुनहिं बतावै । सोइ सगुन ह्वै नन्द की दाँवरी बँधावै ।"[2] वह ईश्वर दीन जनों का बन्धु है, हरि भक्तों के लिए कृपा का सिन्धु है, ऐसा वेदों और पुराणों ने गायन किया है - "तुम बिनु सांकरै को काकौ। चारों वेद चतुरमुख ब्रह्म जस गावत हूँ ताको ।"[3] चारों वेद और चार मुखों वाले ब्रह्म उस ईश्वर का यश गाते हैं - "तातै तुम्हरौ भरोसौ आवै । दीनानाथ पतित पावन, जस वेद उपनिषद गावै ।"[4]

तात्पर्य यह है कि सगुण काव्य धारा का आधार शास्त्र, वेद एवं पुराण है । जिस प्रकार राम-भक्ति धारा के साहित्य में राम का चरित्र वाल्मीकि रामायण और पुराणों से ग्रहण किया गया है, जैसा कि तुलसीदास ने रामचरित मानस के प्रारम्भ में ही कहा है कि जो नाना, पुराण, वेद

---

1. रामचरित मानस, बालकाण्ड, पृष्ठ - 63
2. सूरसागर, पहला खण्ड, प्रथम स्कंध, पृष्ठ - 2, पद 4
3. वही, पृष्ठ - 37, पद संख्या-113
4. वही, पृष्ठ - 40, पद संख्या-122

एवं शास्त्र सम्मत है वही इस रामायण में कहा गया है, और कहीं अन्यत्र से भी लिया गया - "नाना पुराण निगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।"[1] उसी प्रकार कृष्ण साहित्य में भी कृष्ण की समस्त लीला का आधार स्वयं भागवत पुराण है । कृष्ण भक्त कवियों ने अनेक बार भागवत की महिमा की प्रशंसा की है और उसमें वर्णित कृष्ण लीला को अपने काव्य के आधार रूप में स्वीकार किया है ।

सगुण साहित्य की भाँति प्राचीन ग्रन्थों, वेद, उपनिषदों, पुराणों का आधार लेकर निर्गुण संतों ने साहित्य की रचना नहीं की । निर्गुण संतों ने अपनी अनुभूति और आत्मोपलब्धि को ही आधार मानकर अपनी बातें कही हैं । इसीलिए सुन्दरदास कहते हैं कि वह विलक्षण परमात्मा अनुभव के आधार पर ही जाना जाता है, ऐसा वह आत्मा केवल अनुभवगम्य है- "न वह सूक्ष्म स्थूल है, ना वह एक न दोई । सुन्दर ऐसौ आतमा, अनुभव ही गमि होई ।।"[2] निर्गुण सूफी साधक भी अधिकतर शास्त्र ज्ञान से रहित थे । सूफी कवियों की रचना का आधार मुख्यतः उनकी प्रेमानुभूति थी । प्रेम और प्रेम के मार्ग में असहनीय पीड़ा और कष्ट का सूफी काव्यों में वर्णन है ।

---

1. रामचरित मानस, प्रथम सोपान, बालकाण्ड, पृष्ठ - 1

2. सुन्दर ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ - 797

इस प्रकार स्पष्ट है कि सगुण काव्य धारा का आधार धर्मशास्त्र रहे हैं एवं निर्गुण काव्य धारा का आधार आत्म अनुभूति है । निर्गुण एवं सगुण धाराओं के साहित्य में व्यक्त सांस्कृतिक आदर्शों तथा मूल्य चेतना में भी इसी कारण अंतर है । सगुण साहित्य वर्णाश्रम के आदर्शों एवं मूल्यों का पक्षधर है, जबकि निर्गुण शाखा के कवियों ने वर्णाश्रम के आदर्शों के विरुद्ध मनुष्य की समानता का आदर्श निर्मित किया ।

ब्रह्म का स्वरूप : निर्गुण-सगुण की मान्यताः-

भक्ति साहित्य की जो चार शाखाएँ हैं - ज्ञानाश्रयी, प्रेमाश्रयी, राम भक्ति शाखा एवं कृष्ण भक्ति शाखा, इसका मूल आधार ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या एवं उपासना पद्धति है ।

निर्गुण धारा की ज्ञानमार्गी शाखा में ब्रह्म के किसी अवतार पर विश्वास न करते हुए कहा गया है कि ब्रह्म निराकार है, अजन्मा है, अनादि है । संत कवि इस बात का खण्डन करते हैं कि दशरथ पुत्र राम ब्रह्म के अवतार हैं, साक्षात् ब्रह्म स्वरूप हैं अथवा कृष्ण जो नन्द एवं यशोदा के पुत्र हैं, वे ब्रह्म के अवतार और साक्षात ईश्वर हैं । निर्गुण संतों का राम अवतारी राम नहीं है । वे इसे निर्गुण मानते हैं । वह अविगत है और उस अविगत की गति लक्ष्य नहीं की जा सकती । चारों वेद, सारी स्मृतियाँ, पुराण तथा नौ व्याकरण कोई उस निर्गुण राम का मर्म नहीं समझ

सका - "चारि बेद और सुंम्रित पुरानां । नौ व्याकरणं मरम न जाना ।।"[1] संतों का यह निर्गुण राम त्रिगुणातीत है । सात्विक, राजस एवं तामस संज्ञा वाले तीनों गुण उसकी माया है । उस परमपद स्वरूपी राम को तो वही पा सकता है जो इन तीनों से ऊपर उठकर चौथे पद की पहचान करता है -

"रज गुन तम गुन सत गुन कहिऐ यह सभ तेरी माया ।
चउथे पद कौं जो जन चीन्हैं तिनहीं परम पहु पाया ।।"[2]

यही चौथे पद की पहचान से मिलने वाला राम ही संतों का निर्गुण ब्रह्म है । संत जब राम को निर्गुण कहते हैं तो उनका मतलब राम के गुणातीत रूप से होता है, क्योंकि राम के गुणमय शरीर की जो कल्पना की गई है वह उन्हें मान्य नहीं है । उपनिषदों में ब्रह्म की निर्गुणता सिद्ध करने के लिए जिस निषेधात्मक प्रणाली का सहारा लिया गया है वह भी संतों को स्वीकार्य नहीं है । कबीर ने अपने प्रभु से निवेदन करते हुए कहा है कि चारो वेद (नेति नेति कहकर) सब वस्तुओं को पीछे छोड़ते हुए आपका यशोगान करते हैं परन्तु उससे वास्तविक लाभ होता नहीं दिखता। वहाँ भटकता हुआ जीव लूटा अवश्य जाता है - "रावर को पिछवार कै गावहिं चारिउ बैन । जीव परा बहु लूट में ना कछु लैन न दैन ।" अत:

---

1. कबीर ग्रन्थावली, सं0 पारसनाथ तिवारी, पद 153
2. वही, पद 32

निर्गुण संत ब्रह्म को निर्गुण मानते हुए भी इस निर्गुण से निषेधात्मक भाव का ग्रहण करना-कराना नहीं चाहते । कबीर कहते हैं - "संतौ धोखा कासूं कहिए । गुण में निरगुंण, निरगुंण में गुण, बाट छाड़ि क्यूं बहिए ।"[1] लोग उसे अजर कहते हैं, अमर कहते हैं, किन्तु वास्तविक बात कोई नहीं कहता । वस्तुतः वह अलख निरंजन कहये योग्य हैं ही नहीं । निषेधात्मक विशेषण केवल धोखे हैं । यह तो ठीक है कि उसका कोई स्वरूप नहीं है, कोई वर्ण नहीं है, पर यह और भी अधिक ठीक है कि वह सब घट में समाया हुआ है । उस ब्रह्म राम का न तो आदि है, न अन्त है । कबीर कहते हैं कि उनका ब्रह्म अगुण एवं सगुण दोनों से ऊपर है । अजर एवं अमर दोनों से अतीत है, अरुप एवं अवर्ण दोनों से परे है, पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड दोनों से अगम्य है । कबीर इसी को निर्गुण कहते हैं । कबीर मानते हैं कि उस पूर्ण को देखने के लिए पूर्ण दृष्टि जरूरी है । उसे पक्षों में बांटकर नहीं देखा जा सकता । पक्षों में - द्वैत-अद्वैत, भाव-अभाव, आस्ति-नास्ति के खानों में, रखकर उस पूर्ण को देखने का अभ्यासी संसार वास्तव में भ्रम की स्थिति में है । ब्रह्म को जानने के लिए आत्मदृष्टि की अपेक्षा है । इस आत्मदृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति ही निर्गुण ब्रह्म को जान सकता है ।

सूफी साधकों ने ब्रह्म सम्बन्धी वर्णन किये हैं वे निराकार व निर्गुण का समर्थन करते हैं । सूफी साहित्य में जो ईश्वर सम्बन्धी वर्णन

---

1. कबीर ग्रन्थावली, सं0 पारसनाथ तिवारी, पद 180

है वे यही प्रकट करते हैं कि उस ईश्वर के न माता है न पिता हैं । उसने किसी को जन्म नहीं दिया, उसे भी किसी ने जन्म नहीं दिया । उसका न कुटुम्ब है, न परिवार है, उसका कोई सम्बन्धी भी नहीं है -

"अलख अरुप अबरन सो कर्ता। वह सब सों, सब ओहिंसों बर्ता ।

ना ओहि पूत न पिता न माता। ना ओहि कुटुंब न कोई संग नाता।।"[1]

इस शाखा के साहित्य में ईश्वर के व्यापकत्व पर भी बल है । सूफी साहित्य में ब्रह्म का वर्णन 'ज्योति' रूप में है । वह ब्रह्म ज्योति स्वरूप है- "एक जोत परगट सब ठाऊँ, रहइ न कतहू दूसर नाऊं ।"[2]

सगुणवादी तत्व चिंतकों एवं भक्तों की दृष्टि में निर्गुण एवं रूपातीत ब्रह्म ज्ञान का विषय है, जबकि भक्ति के लिए ब्रह्म का सगुण होना अनिवार्य है । राम भक्ति काव्य में ईश्वर के सगुण रूप पर विश्वास है । सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ विष्णु के अवतार राम को ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है । राम जो दशरथ के पुत्र हैं, वही साक्षात् हैं -

"जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहिं धरहिं मुनि ध्यान ।

सोई दशरथ सुत भगतहित, कोसलपति भगवान ।।"[3]

---

1. जायसी ग्रन्थावली-सं0 पं0 रामचन्द्र शुक्ल, पदमावत् स्तुति खण्ड, पृष्ठ-3, पद-7

2. चित्रावली, उसमान, डा0 मनमोहन गौतम, पद्मावत, पृष्ठ-1,3,4,6

3. रामचरित मानस : बालकाण्ड, पृष्ठ - 63, पद ।।7

जो इस बात को नहीं समझ पतो वे राम साहित्य के मतानुसार 'विवेकरहित' हैं । राम ने मनुष्य की भाँति लीला की, इससे उनके परब्रह्मत्व में कोई भेद नहीं आता । राम साहित्य में इसका स्पष्टीकरण दिया जाता है कि ईश्वर भक्तों के हित के लिए अवतार धारण करते हैं - "ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई । भगत हेतु लीला तनु गहई ।"[1] अनेक स्थलों पर यह विश्वास दोहराया गया है कि भक्तों के उद्धार के लिए ईश्वर ने शरीर रूप धारण किया है । पुरुषोत्तम राम के स्वरूप में अवतरित होकर साक्षात् ब्रह्म ही का चरित्र प्रकट है । राम का चरित्र मनुष्यों के लिए आदर्श है । संसार से अधर्म को हटाने के लिए राम ने अवतार लिया था । यह राम ही सगुण ब्रह्म है । नर रूप में प्रत्यक्ष प्रभु हैं - 'अगुन अरूप अलख अजज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई ।।"[2] राम साहित्य के अनुसार ब्रह्म ने भक्तों एवं संतों के लिए राम का अवतार रूप धारण किया था । अतः राम ही परब्रह्म का स्वरूप है । राम ही निर्गुण सगुण ईश्वर हैं । राम की ही ब्रह्म के रूप में उपासना कल्याणप्रद है ।

कृष्ण भक्ति साहित्य में कृष्ण को उसी प्रकार से उपासना का लक्ष्य समझा गया है जिस प्रकार से कि राम साहित्य में राम को । कृष्ण को विष्णु का अवतार मानकर भागवत पुराण में जो कृष्ण की लीला का गायन हे लगभग उसी को कृष्ण भक्ति साहित्य में स्वीकार कर लिया गया है।

---

1. रामचरित मानस : बालकाण्ड, पृष्ठ - 75, पद 3-5
2. वही, पृष्ठ - 62, पद संख्या ।।

धारण कर अपनी लीला प्रकट की - "अवनि असुर अति प्रबल मुनीजन कर्म छुड़ाए । गऊ संतनि के हेत, देह धरि ब्रज में आये ।।"[1] राम साहित्य में अवतार के हेतु में संतों के साथ विप्तों का कल्याण भी जोड़ दिया गया है ।[2] कृष्ण साहित्य में ब्राह्मणों का नाम नहीं लिया गया है । मात्र भक्तों का उद्धार ही अवतार धारण का हेतु बतलाया गया है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ब्रह्म के स्वरूप के विषय में सगुण एवं निर्गुण की अपनी-अपनी मान्यतायें थीं । ज्ञानाश्रयी एवं प्रेमाश्रयी शाखाओं के कवियों ने सगुण का बराबर निषेध किया है । राम काव्य धारा एवं कृष्ण काव्य धारा का आधार वेद, पुराण है, फलस्वरूप तरह-तरह के अवतारों पर विश्वास है और ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप का निषेध किया गया है । निर्गुण - सगुण के वाद-विवाद का मुख्य कारण अवतार की भावना है। निर्गुण धारा की शाखाओं में विशेषतः ज्ञानाश्रयी शाखा में अवतार की भावना को हास्यास्पद माना गया है । इसी प्रकार सगुण धारा की शाखाओं में विशेषतः कृष्ण काव्यधारा में ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को हास्यास्पद सिद्ध किया गया है । अवतार की भावना को स्वीकार करने और न करने के कारण चारों शाखाओं की रूप रेखायें बिल्कुल भिन्न-भिन्न हैं ।

---

1. सूरसागर, पहला खण्ड, दशम स्कंध, पृष्ठ-594, पद-787

2. विप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार ।
   निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार ।।
   रामचरित मानस : बालकाण्ड, पृष्ठ-97, पद 192

उपासना पद्धति : निर्गुण-सगुण की मान्यता:-

निर्गुण एवं सगुण काव्य धारा में साध्य के सम्बन्ध में मतभेद होने के फलस्वरूप यह स्वाभाविक है कि उपासना पद्धति सम्बन्धी विचारों में दोनों शाखाओं में विभिन्नता रहेगी ।

निगुर्ण ज्ञानाश्रयी शाखा में अध्यात्म मार्ग के जिस रूप का वर्णन है वह साध्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के फलस्वरूप कुछ अनोखा है । निर्गुण ईश्वर की उपासना के लिए पूजा, अर्चना, सब व्यर्थ है । सभी स्थानों पर जो ईश्वर है उसकी किसी विशेष स्थान पर जाकर पूजा, नैवेद्य, आरती करना निर्गुण संत व्यर्थ मानते हैं । निर्गुण संतों ने ईश्वर की उपासना के जितने भी स्थूल साधन हैं, सबको महत्वहीन माना । इनकी दृष्टि में तीर्थ स्थानों का भी कोई महत्व नहीं है । मन्दिरों में जाकर घण्टा बजाना संतों की दृष्टि में उपासना नहीं बल्कि ढोंग है । वास्तविक साधाना इन सब स्थूल साधनों से सम्बन्ध नहीं रखती । संतों का मत है कि जब वह परमेश्वर घट-घट में, प्रत्येक जीव में विद्यमान है, तो उसकी उपासना करने के लिए अपने से बाहर किसी भी साधन को क्यों अपनाया जाय । संतों ने धर्म स्थलों एवं मूर्ति-पूजा का विरोध किया । ईश्वर की उपासना के लिए भेष बनाने के कई प्रचलित साधनों - छापा, तिलक, माला, जटा, जनेउ, मृगछाला आदि का निर्गुण संतों ने विरोध किया है । कबीर माला, तिलक की निस्सारता

को जानते थे । इसीलिए वे व्यंग्य करते हुए कहते हैं - 'माथे तिलक हथि माला बाना, लोगन रामु खिलउना जाना'[1] मात्र माला पहनने से ईश्वर की प्राप्ति सम्भव होती तो सबसे पहले कुँयें के अन्दर से पानी निकालने वाले रहट को भगवत्प्राप्ति हो जाती -

"कबीर माला मन की, और संसारी भेष
माला पहन्यां हरि मिले, तो अरहट के गलि देव"[2]

संत कवियों ने समस्त वाह्याचारों एवं निरर्थक उपासना पद्धतियों का विरोध किया । संत साधकों का बहुदेववाद की उपासना से विरोध था । संतों की दृष्टि में बहुदेववाद केवल बहिर्मुखी वालों के लिए ही उपयोगी हो सकता है । संतों ने एकेश्वरवाद की साधना का प्रचार किया । संत साहित्य में अनेक स्थलों पर ऐसे शब्दों का प्रयोग है जो योग मार्ग से सम्बन्ध रखते हैं । योग का प्रभाव संतों पर था । कुंडलिनी, षरचक्र, अनहदंनाद आदि के विषय में संत साहित्य में वर्णन है । संतों ने इन सब क्रिया क्लिष्ट योग को ईश्वर की प्राप्ति के मार्ग में स्थूल साधन माना है । शरीर को वश में करने के लिए योग मार्ग का सहारा लिया जाता है किन्तु ईश्वर की अनुभूति में यौगिक क्रियायें किस प्रकार सहायक हो सकती हैं । संतों का साधना मार्ग ऊपर से देखने पर विशेष सरल जान पड़ता है किन्तु इस

---

1. संत कबीर : सं0 रामकुमार वर्मा, पृष्ठ - 211

2. कबीर ग्रन्थावली : सं0 श्याम सुंदरदास, पृष्ठ-35

सरल साधना में एक बात पर बल है कि साधना में सहज भाव रहना आवश्यक है । इस सहजता को पाना भी मनुष्य के लिए दुष्कर कार्य है । कर्मकाण्ड सरल है, पूजा, अर्चना, आरती से ईश्वर प्राप्त हो सके तब एक साधारण मनुष्य भी इस मार्ग पर लग सकता है किन्तु सहज भाव से उस ईश्वर के प्रति समर्पित रहना अत्यन्त कठिन है । इस सहज भाव की प्राप्ति के लिए साधक को नित्य प्रतिपल अभ्यास की आवश्यकता है ।

सूफी मत के अनुसार प्रेम के परिवेश में ही समस्त साधना अन्तर्निहित है । योग क्रियाओं का वर्णन सूफी कवियों ने भी किया है । सूफियों का प्रेम मार्ग योग की क्रियाओं, कष्ट साधनाओं से परिपूर्ण है । संतों के सहज, सरल प्रेम की भाँति सूफियों का प्रेम मार्ग नहीं है । सूफियों के अनुसार आराध्य को पाने के लिए कठिन साधना करनी पड़ती है । इस मार्ग पर चलने वाले साधक को तन न्योछावर करने के लिए तत्पर रहना पड़ता है। नाना प्रकार के क्लेश बाधाओं से परिपूर्ण मार्ग पर चलकर ही आराध्य की प्राप्ति संभव है । संतों ने साधना क्षेत्र में सहजता पर बल दिया था वहीं सूफियों ने साधना क्षेत्र में कष्टों की ओर संकेत किया है । सूफियों के अनुसार जो भयंकर कष्टों को सह सकता है, वही प्रेम के मार्ग पर चलकर अपने इष्टदेव से मिल सकता है ।

रामकाव्य धारा में उपासना पद्धति अपेक्षाकृत सरल एवं स्पष्ट

है । राम आराध्य हैं, उनकी उपासना में सेवा भाव से सदैव तल्लीन रहना भक्त का कर्तव्य है । इष्टदेव के सगुण होने से सुविधा भी है । राम जो विष्णु के अवतार है, अनन्त अलौकिक गुणों के साथ एक विशेष रूप से सम्पन्न हैं, मर्यादा पुरुषोत्तम हैं, उनकी भक्ति करना ही साधक का लक्ष्य है । यहाँ भक्ति दास्य भाव की है । राम साहित्य के प्रमुख ग्रन्थ 'रामचरित मानस' में तुलसी कहते हैं कि राम अपने भक्त पर कृपालु हैं जो उनके प्रति दास्य भाव रखता है - "सब के प्रिय सेवक यह नीती । मोरै अधिक दास पर प्रीती ।"[1] राम साहित्य में क्रिया क्लिष्ट योग मार्ग को निम्न दृष्टि से देखा गया है । सहज भाव से भक्ति करने के विचार का भी रामचरित मानस में खण्डन है । कारण यह है कि इस सहज मार्ग को साधारण मनुष्य हृदयंगम नहीं कर सकता । सहज साधना को जनसाधारण समझने में सर्वथा असमर्थ है । अतः रामकाव्य धारा में ऐसे साधन का प्रतिपादन किया गया जो जनसाधारण को शान्ति चित्त से शक्ति मार्ग पर लगे रहने का सकारात्मक उपाय बता सके ।

कृष्ण काव्य धारा में साकार सगुण कृष्ण के रूप पर विश्वास करते हुए उनकी लीला का गायन करना ही कृष्ण भक्त की साधना थी।

---

1. रामचरित मानस, उत्तर काण्ड, पृष्ठ - 499, पद संख्या-20

कृष्ण भक्त के लिए प्रेम के समक्ष योग का मार्ग कष्ट बहुत मार्ग अत्यन्त तुच्छ था । कृष्ण भक्तों ने योग मार्ग का तिरस्कार किया है । उद्धव गोपी प्रसंग का अपनी लीला गायन में समावेश करके कृष्ण भक्त कवियों ने प्रत्यक्ष रूप से योग को व्यर्थ बतलाकर उसके समक्ष सगुण साकार कृष्ण से एकमात्र प्रेम करने की ही महत्ता प्रतिपादित की है -

"ऊर्धा जोग जोग कहत, कहा जोग कीऐं ।
स्याम सुन्दर कमल नैन, बसौ मेरे जीऐं ।।
जोग जुगुति साधन तप, जोगि जुग सिरायौ ।
ताकौ फल सगुन मूर्ति, प्रकट दरस पायौ ।।"[1]

कृष्ण भक्त अपने लीलामय कृष्ण को सदैव अपने सखा के रूप में पाते हैं। गोपी भाव से कृष्ण के साथ सच्ची प्रीति कृष्ण भक्तों की सर्वश्रेष्ठ साधना है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सगुण एवं निर्गुण काव्य धारा के कवियों की ईश्वर सम्बन्धी और फलस्वरूप उपासना पद्धति सम्बन्धी धारणायें भिन्न थीं । निर्गुण काव्य धारा के सन्तों ने वेद, पुराण, धर्मग्रन्थों का सहारा लेकर ईश्वर के किसी चरित्र का गान नहीं किया जबकि सगुण मार्ग के भक्तों ने पुराणों से कथायें लेकर राम के चरित्र और कृष्ण लीला के गायन में ही

---

1. सूरसागर, दूसरा खण्ड, दशम स्कंध, पृष्ठ-1501, पद संख्या 3700

अपनी समस्त प्रतिया समर्पित कर दी ।

सांस्कृतिक परम्पराओं का प्रश्नः-

कोई भी समाज मूल्यों के अभाव में अपना अस्तित्व बनाये नहीं रह सकता । मूल्य ही सामाजिक जीवन का निर्धारण और संचालन करते हैं। मानव समाज में हमेशा चिंतन की प्रक्रिया चलती है । यह चिंतन ही अनेक प्रकार की अवधारणाओं की सृष्टि करता है और बाद में इन अवधारणाओं से मूल्यों का निर्माण होता है । बाद में, ये मूल्य ही व्यक्ति के चिंतन को प्रभावित एवं निर्देशित करते हैं । व्यक्ति समाज में रहते हुए अनेक प्रकार के अनुभवों से गुजरता है । अनुभवों की यह समृद्धि उसके चिंतन का विकास करती है और नई अवधारणाओं की सृष्टि करती है । इन्हीं से आगे चलकर जो मूल्य स्थापित होते हैं, वे सामाजिक जीवन को स्वस्थ, व्यवस्थित बनाने का माध्यम बनते हैं ।

प्रत्येक महत्वपूर्ण साहित्यकार इन सामाजिक मूल्यों की अभिव्यक्ति के साथ ही उनमें संशोधन करते हुए उन्हें समाज व्यवस्था के अनुकूल बनाने का प्रयास करता है । व्यक्ति समाज का सदस्य होने के साथ ही अपने वर्ग का भी सदस्य होता है । अतः वर्गों में विभक्त समाज के मूल्य वर्गीय विशेषता भी रखते हैं । यही कारण है कि एक युग के समाज में दो विरोधी वर्ग-मूल्यों की टकराहट भी दिखाई देती है । सगुण एवं निर्गुण काव्य

धारा के बीच इस मूल्य संघर्ष को आसानी से देखा जा सकता है । उत्तर भारत का भक्ति आन्दोलन केवल निर्गुण-निराकार और सगुण साकार की उपासना के विवाद का ही आन्दोलन नहीं बल्कि दो विरोधी सामाजिक-सांस्कृतिक शक्तियों का संघर्ष भी है । ये शक्तियाँ उस युग की दो वर्गीय शक्तियाँ हैं, जिनमें एक का सम्बन्ध सामन्ती आभिजात्य वर्ग से तथा दूसरी का सम्बन्ध शोषित उत्पीड़ित वर्ग एवं वंचित लोगों के वर्ग से है । निर्गुण काव्यधारा ने शोषित, उत्पीड़ित वर्ग का प्रतिनिधित्व किया एवं सगुण काव्य धारा ने सामंती-अभिजात्य वर्ग का । समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से निर्गुण काव्य धारा में कबीर एवं सगुण काव्य धारा में गोस्वामी तुलसीदास ही अधिक महत्वपूर्ण हैं । कालक्रम की दृष्टि से पहले आकर निर्गुण धारा ने सामाजिक परिवर्तन की जिस क्रान्तिकारी चेतना का सूत्रपात किया था, उसे सगुण धारा ने बाद में आकर काफी कुछ निरस्त करने का प्रयास किया । इन्हीं वास्तविकताओं के संदर्भ में सगुण-निर्गुण के समाजशास्त्रीय संघर्ष का मूल्यांकन किया जायेगा।

वर्णाश्रम:-

वर्ण व्यवस्था संसार के प्रत्येक सामंती समाज की विशेषता है। स्वभावतः भारतीय वर्ण व्यवस्था मध्यकालीन सामंती समाज की संचालिका रही है । अपने आरम्भिक दौर में यह कार्य विभाजन पर आधारित थी, जिसके अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ग के लोग थे। ब्राह्मण का कार्य पूजा-पाठ एवं अध्ययन-अध्यापन था । क्षत्रिय शासक एवं योद्धा

होते थे । वैश्य व्यापार का कार्य करते थे । शूद्र का कार्य कृषि, श्रम एवं उच्च वर्गों की सेवा करना था । समाजशास्त्रियों का मानना है कि चातुर्वर्ण-व्यवस्था का उद्‌भव रक्त सम्बन्धों पर आधारित जनव्यवस्था के टूटने के परिणाम स्वरूप होता है । जब संपत्ति कुछ विशेष लोगों में केन्द्रित होने लगती है तो उससे व्यापार के प्रसार की सम्भावना उत्पन्न होने लगती है जिससे रक्त सम्बन्धों पर आधारित समाज टूटता है और व्यापारियों का एक नया वर्ण बन जाता है । चार वर्णों के बीच यह तीसरा वैश्य वर्ण हर सामन्ती व्यवस्था में दिखाई देता है । व्यापार का प्रसार जिस तरह जन व्यवस्था को तोड़कर सामन्ती व्यवस्था को जन्म देता है, उसी तरह सामन्ती समाज मे भी अगर व्यापार विकसित होता जाय तो यह चातुर्वर्ण पर आधारित सामन्ती समाज को तोड़कर पूँजीवादी समाज के लिए भूमि तैयार करता है ।

मध्यकालीन सामन्ती समाज को अनुशासित करने के लिए वर्णाश्रम व्यवस्था इतना कारगर अस्त्र सिद्ध हुई कि अनेक अवरोधों के बावजूद यह समाप्त नहीं हुई । डा0 राजदेव सिंह ने लिखा है - "सातवीं से तेरहवीं शताब्दी के बीच प्राप्त लेखों से पता चलता है कि बौद्धों आदि के कारण, वर्णाश्रम व्यवस्था में बहुत कमजोरियाँ आ गई थी और समाज को धीरे-धीरे अनेक आर्थिक सामाजिक कारणों से वर्णाश्रम व्यवस्था को पुनः स्वीकार करने पर विवश और उत्पीड़ित किया जा रहा था । यह दबाव धर्म का मुखौटा लगाये हुए था । गुप्तों के सामंत संक्षोभ को 'वर्णाश्रम स्थापना-निरत परम-

भागवत संक्षोभ' कहकर स्मरण किया गया है और श्री हर्ष के पिता प्रभाकर बर्धन को 'वर्णाश्रम व्यवस्था-पन प्रवृत्त' कहा गया है । कामरूप के राजा भास्कर वर्मन के लेख में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि उन्होंने पूर्व काल में अव्यवस्थित वर्णाश्रम व्यवस्था को पुनः सुव्यवस्थित किया था।"[1]

मध्यकालीन भारतीय समाज की सबसे दृढ़ ईकाई गाँव थी । वर्ण व्यवस्था के साथ ही सामन्ती व्यवस्था को संरक्षण यहीं से मिलता था । गाँव की पंचायत सामन्त के माध्यम से शासक के शासन को लागू करवाने के साथ ही भूमि की व्यवस्था और करों का नियमन करती थी । यही सेवक-सेव्य भाव पर आधारित वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुरूप लोक मर्यादा एवं वेद मर्यादा का पालन करवाती थी ।

कबीरदास के रचनाकाल तक भारतवर्ष पर मुसलमानों को शासन करते हुए दो शताब्दियों से अधिक समय गुजर चुका था। पूरे मुस्लिम शासन को मुस्लिम मध्यकाल की संज्ञा देते हुए डा० रमेश कुन्तल मेघ ने इसकी कुछ विशेषताओं को रेखांकित करते हुए लिखा है - 'हिन्दू सामन्त युग में न तो लोक भाषाओं ने साहित्यिक अस्तित्व प्राप्त किया था और न ही व्यापार का इतना व्यापक अन्तर्राष्ट्रीयकरण हुआ था । उस युग में धर्म राजशक्ति

---

1. राजदेव सिंह : संत साहित्य की भूमिका, पृष्ठ - 48

से संलग्न था और मुस्लिम युग की तरह वह जनजीवन के आन्दोलन के रूप में नहीं प्रवाहित हो रहा था । इसलिए मुस्लिम मध्यकाल शुरू में कई अर्थों में व्यापक प्रजातांत्रिक चेतना तथा सांस्कृतिक अन्तरवलंबन का प्रसार करता है ।"[1] लेकिन मुस्लिम मध्यकाल या हिन्दू मध्यकाल जैसा विभाजन सार्थक नहीं है । भूमि व्यवस्था पर आधारित जिस ग्रामीण उत्पादन तंत्र ने एक सामाजिक शक्ति के रूप में पूर्व युगों में जिस प्रकार परम्परागत भारतीय सामन्तवाद की रक्षा की और उसके मूल सामाजिक ढाँचे को बनाये रखा, ठीक वही कार्य उसने मुस्लिम शासन काल में भी सम्पन्न किया ।

कबीरदास ने तत्कालीन समय में वर्ण-व्यवस्था की विकृति को देखा । उन्होंने वर्ण व्यवस्था पर तीखा प्रहार किया । वर्ग विशेष के लोग ही शास्त्र पुराण एवं धार्मिक कर्मकाण्डों के माध्यम से वर्ण व्यवस्था के रक्षक बने हुए थे । अनेक सामाजिक कुरीतियाँ, धार्मिक पाखण्ड, अंध विश्वास, छुआछूत, ऊँच-नीच जैसी बुराईयों का कारण वर्ण व्यवस्था ही थी । समाज का विशाल जनसमुदाय वर्ण एवं जाति के आधार पर केवल धार्मिक दृष्टि से ही नहीं वरन् सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से भी सभी अधिकारों से वंचित कर दिया गया था । इस विशाल जन समुदाय का पक्ष लेकर कीबर ने हिन्दू वर्ण व्यवस्था के समर्थकों को

---

1. रमेश कुंतल मेघ - आधुनिक वातायन से, पृष्ठ - 4

ललकारा - 'तू बामन बामनि का जाया, आन बाट ह्वै क्यों नहीं आया ।'[1] कबीर ने शास्त्र-पुराण मतवादी ब्राह्मणवाद को गम्भीर चुनौती दी । इस ब्राह्मणवाद का आधार शास्त्र और शास्त्रीय कर्मकाण्ड था, जिसपर कबीर ने गिन-गिनकर चोटें कीं । वेद, स्मृति, पुराण की शास्त्रीय मान्यताओं के नाम पर जिस वर्णवादी मर्यादा को लोक जीवन पर थोपा गया था, कबीर ने उसे अस्वीकार करते हुए अत्यन्त तर्क संगत ढंग से उसका पर्दाफाश किया। शास्त्र मतवादी तत्कालीन सम्भ्रान्त समाज के सामने उन्होंने यह गम्भीर चुनौती रखी - 'मैं कहता आँखिन की देखी, तू कहता, कागद की लेखी' । कबीर ने 'आँखिन देखी' सत्य को आधार बनाकर आध्यात्मिक सत्यों का निरूपण किया । इन आध्यात्मिक सत्यों का सन्धान कबीर ने मानव मूल्यों की कसौटी पर कसकर किया । इसलिए अन्तर्विरोधों, अन्ध विश्वासों एवं मिथ्या कल्पनाओं को उन्होंने त्याज्य समझा । कबीर ने पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा आत्मज्ञान पर अधिक जोर दिया । डा0 मोती सिंह के अनुसार "इन्हीं पुस्तकों के सहारे पंडितों ने अबोध जनता को अनेक प्रकार के अंधविश्वास और आचारों में फँसाकर अनन्तकाल तक शोषण किया था । अतः कबीर ने अनेक स्थानों पर इन पंडितों की निन्दा की है और साथ ही ज्ञान सम्बन्धी अपनी मान्यता को स्पष्ट किया है ।"[2] कबीर केवल राम नाम को मुक्ति का द्वार मानते हैं-

---

1. कबीर ग्रन्थावली : सं0 माता प्रसाद गुप्त, पृ0 71/4।

2. कबीर : सं0 विजयेन्द्र स्नातक, पृष्ठ - 138

"पड़िया कौन कुमति तुम लागे ।

तू राम न जपहि अभागी ।

वेद पुरान पड़त असपांडे, गुन खर चन्दन जस भारा ।

रामनाम तत समण्त नाहीं, अन्ति पड़ै मुखि छारा ।"[1]

कबीर ने तर्क एवं बुद्धि के सहारे धर्म की कुरीतियों का भण्डाफोड़ करने के लिए संघर्ष करते रहे । कबीर ने बड़े मार्मिक एवं व्यंग्यात्मक ढंग से तीर्थ, मंदिर-मस्जिद, मूर्ति पूजा, वाह्याचारों का वर्णन किया । उनके तर्क बहुत तीखे एवं प्रभावशाली हैं जो व्यक्ति की अन्तरात्मा पर गहरी चोट करते हैं तथा उसे गहराई से सोचने पर विवश करते हैं :-

"काजी तैं कौन कितेब बखानी

पढ़त गुनत ऐसे सब भारे, कि नहूँ खबरि न जानी ।

संकति सनेह करि सुनति करिए, मैं न बढ़ोगा भाई ।

जौ वे खुदाई मोहे तुरुक करेगा, आपन ही करिजाई ।

सुन्नति करें तुढ़क जो छोड़गा, औरत का क्या करिए ।

अर्ध सरीरी नारि न छोड़े, ताते हिन्दू रहिए ।"[2]

कबीर साम्प्रदायिकता के पक्षपाती नहीं थे । वह सभी धर्मों के प्रति एक आस्था, समभाव पैदा करना चाहते थे । वर्णाश्रम एवं शास्त्र-सम्मत तमाम

---

1. कबीर ग्रन्थावली, श्याम सुन्दरदास, पद 39, पृष्ठ-78

2. कबीर गुन्थावली : सं0 श्याम सुन्दर दास, पद 59, पृष्ठ-83

सारी मर्यादाओं की खुलेआम निन्दा करते हुए कबीर ने हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिए भक्ति का नया मार्ग प्रस्तुत किया । यह मार्ग निर्गुण-निराकार की उपासना का था । इसके माध्यम से कबीर ने दीन-हीन असहाय समझी जाने वाली अछूत जातियों के लिए भक्ति का द्वार खोला । कबीर के निर्गुण मत में निम्न जातीय धार्मिक जनवाद की घोषणा अपने समय के लिए क्रान्तिकारी संदेश थी, जो व्यक्ति की आध्यात्मिक मुक्ति से लेकर, उसकी सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती थी ।

कबीर के प्राचीनतम मूल्यांकन कर्ता एवं गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन भक्त नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' नामक भक्त कवियों के परिचय ग्रन्थ में लिखा है -

"भक्ति विमुख जो धरम ताहि अधरम करि गायो ।
जोग जग्य व्रतदान भजन बिनु तुच्छ दिखायो ।
हिन्दू-तुरक प्रमान रमैनी सबदी साखी ।
पच्छपात नहिं बचन सबहिं के हित की भाखी । आरुढ़ दसा
होई जगत पर मुख देखी नाहिन भनी ।
कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट्दर्शनी ।"[1]

यह कबीर दास के वास्तविक महत्व का समग्र मूल्यांकन है ।

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डा0 नगेन्द्र, पृष्ठ - 113

भक्तिकालीन समाज में दो विचारधारायें थीं । एक वे थे जो शास्त्रीय एवं परम्परावादी विचारधारा के समर्थक थे एवं दूसरा वर्ग वह था जो प्रत्यक्ष जीवन को ही सब कुछ मानता था । परम्परा के प्रवाह में जीवित रहने वाले पडि-मुल्ला के विपरीत निर्गुण संत प्रत्यक्ष जीवन को अधिक महत्व देते थे । इस प्रकार के लोग हिन्दू एवं मुसलमान दोनों वर्गों में विद्यमान थे । प्राचीन जीवन दर्शन या वेदान्त में विश्वास करने वाले परम्परावादी थे और नये वेदान्त में आस्था रखने वाले यथार्थवादी थे, जो अपने अनुभव और विवेक को ही सब कुछ मानते थे । मध्यकालीन समाज में थोथे अभिमान की भावना लोगों में उग्र दिखाई देती है । पण्डित, योगी, मुल्ला, सन्यासी सभी अपने-अपने क्षेत्र अपनी विचारधारा को दूसरे से अधिक महत्वपूर्ण मानते थे । साधारण जनजीवन लोकानुयायी था । इस प्रकार साधारण जन-जीवन विविध मतों से प्रभावित होकर तथा वर्णव्यवस्था की सीमाओं में बँधकर लोक-धर्म का निर्वाह कर रहा था । स्वभावतः साधारण जनता में जाति-धर्म तथा आर्थिक असमानता के कारण वैचारिक विषमता व्याप्त थी जिसे निर्गुण संतों ने दूर करने का प्रयास किया । इस सम्बन्ध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है - "सादगी में जीवन व्यतीत करने वाले संतों का एक ऐसा क्रान्तिकारी वर्ग था जिसने सभी अत्याचारों एवं दुर्व्यवस्थाओं के विरोध में अपना झण्डा ऊँचा किया । इन संतों में अधिकतर निम्न जाति के लोग थे जो समाज और राज्य की तरफ से तिरस्कृत थे ।"[1] निर्गुण संतों के इस

---

1. मध्यकालीन धर्म साधना : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ-216

समाज ने कभी जाति, धर्म, वर्ण एवं सम्प्रदाय को महत्व नहीं दिया क्योंकि मानव-जीवन का उद्देश्य जाति, धर्म अथवा सम्प्रदाय का निर्माण करना सही है, क्योंकि इन सीमाओं की स्थापना से मानव मूल्य विकृत होते हैं । अतः निर्गुण संतों ने सभी संकीर्णताओं को नकारकर मानव के मूल धर्म को स्वीकार किया । निर्गुण संतों ने सारे मनुष्यों को एक जाति माना । मानव धर्म को मूलधर्म के रूप में स्वीकार किया और अपने जागृत विवेक द्वारा साक्षात्कृत सत्य को व्यावहारिक जीवन में उतारा ।

निर्गुण संत कबीर की भक्ति व्यक्तिगत धरातल से वृहत् सामाजिक स्तरों तक व्याप्त है । आधुनिक प्रगतिशील कवि मुक्तिबोध मानते हैं कि अकेले की मुक्ति सम्भव नहीं है, उसी तरह से कबीर भक्ति की सामूहिक भावना को प्रस्तुत करते हैं - "उन्होंने सभी को साथ लेकर चलने वाले भक्ति-भाव की मान्यता में आस्था स्थापित की है। कबीर का प्रभु के चरणों में आत्मसमर्पण और आत्म निवेदन इसीलिए किसी विशेष सम्प्रदाय के आदर्शों से सम्बद्ध नहीं है । ऊँच, नीच, वर्ण, धर्म सब आपकी प्रेमधारा में प्रभावित होकर एक हो गये हैं ।"[1] स्पष्ट है कि उनकी भक्ति भावना में जातिगत श्रेष्ठता का दम्भ और सम्प्रदायवादी दृष्टि का प्रतिकार है । सभी निर्गुण

---

1. यज्ञदत्त शर्मा : कबीर साहित्य और सिद्धान्त, पृष्ठ - 105

साधकों ने जाति भेद, ऊँच, नीच, वर्ण, धर्म का विरोध किया जो कि वर्णाश्रम व्यवस्था के कारण ही पैदा हुई थी ।

निर्गुण विचारधारा के विपरीत सगुण विचारधारा के लोग थे । सगुण साधकों ने शास्त्रीय एवं परम्परावादी विचारधारा का समर्थन किया। कबीर के विपरीत तुलसीदास ने वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थन किया । तुलसीदास मध्यकालीन सामन्तीय मानवी-सामाजिक सम्बन्धों की उपज थे । धर्म प्राण युग होने के कारण मध्यकाल के धर्म, दर्शन, नैतिकता, आचार विचार पर आध्यात्मिकता की गहरी छाप है । तुलसी ने धर्म को उसके व्यापक अर्थ में ग्रहण किया, जिसके अन्तर्गत न्याय, आचार, नीति, मर्यादा, स्वभाव, गुण, विशेषता, कर्तव्य, पुण्य, वैदिक-कर्मकाण्ड भी आ जाते हैं । तात्पर्य यह है कि उनकी दृष्टि में धर्म आचार संहिता के साथ ही जीवन दर्शन के सैद्धान्तिक एवं वयावहारिक पक्ष का भी निर्देशक है । लौकिक एवं पार-लौकिक जीवन के अभ्युदय में योग देने वाले सभी विधि-विधान इसकी परिधि में आ जाते हैं । धर्म सम्प्रदाय की दृष्टि से तुलसी का धर्म सनातन है । सनातन धर्म श्रुति-विहित स्मार्त धर्म माना जाता है । याज्ञवल्क्य ने सनातन धर्म के छः प्रकार बताये हैं - साधारण धर्म, वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, वर्णाश्रम धर्म, गुण धर्म एवं निमित्त धर्म । तुलसी ने धर्म को इन सभी रूपों मे लिया। तुलसी द्वारा प्रतिपादित धर्म मूलतः दो प्रकार के हैं - साधारण धर्म एवं वर्णाश्रम धर्म । साधारण धर्म तो सामान्य धर्म है, जो समान रूप से मानव मात्र का कर्तव्य है किन्तु वर्णाश्रम धर्म विशेष धर्म है, जिसका पालन वर्ण

तथा आश्रम के अनुकूल होता है । विशेष धर्म के अन्तर्गत तुलसी ने वर्णाश्रम धर्म की परम्परागत मान्यता को स्वीकार करते हुए उसे और अधिक व्यापक भूमि प्रदान की ।

तुलसी का सामाजिक आदर्श वर्णाश्रम की सामाजिक-धार्मिक मान्यता पर ही आधारित था । कबीर एवं उनके निर्गुण पंथ ने वर्ण व्यवस्था पर जो प्रहार किये थे, उनके विपरीत तुलसी ने लिखा -

'साखी सबरी दोहरा कहि किहनी उपखान ।
भगति निरूपहिं भगत कलि निन्दहिं वेद पुरान ।'[1]
बदहिं सूद्र द्विजन सन हम तुम्हतें कहु घाटि ।
जानहिं ब्रह्म ते विप्त बर आँख देखावहिं डाटि ।[2]

वर्णाश्रम व्यवस्था के सम्बन्ध में तुलसीदास के ये विचार हैं, जो भक्ति एवं ज्ञान को केवल एक विशेष जाति ब्राह्मणों तक सीमित रखना चाहते हैं। तुलसी ने वर्णाश्रम व्यवस्था को शास्त्रों एवं पुराणों के आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया । तुलसी के अनुसार समाज में घोर अव्यवस्था, अशांति, अन्याय, संघर्ष एवं अनाचार का मूल कारण वर्णाश्रम धर्म का ह्रास माना । मानस के उत्तरकाण्ड में कलि वर्णन के अन्तर्गत तुलसी ने लिखा है कि

---

1. दोहावली, पृष्ठ - 190, पद 554

2. वही, पृष्ठ - 190, पद 553

ब्राह्मण वेद बेचने वाले हो गये हैं । शूद्र सेवा कार्य त्याज्य कर उपदेश देने लगे हैं । निम्न वर्ण के सामान्य जन ब्राह्मणों से पैर पुजाने लगे हैं। ब्राह्मण निरक्षर, लोलुप, कामी एवं आचारहीन होकर नीच जाति की स्त्रियों से सम्पर्क स्थापित करने लगे हैं, जो तुलसी की दृष्टि से अनर्थ था । तुलसी की दृष्टि में वर्णसंकर होकर लोग वर्ण की मर्यादा से पूर्णतः च्युत हो गये हैं । इससे स्पष्ट है कि तुलसी के समय तक वर्णाश्रम की प्रतिष्ठा को काफी धक्का लगा था । वर्णाश्रम की प्रतिष्ठा को पुनः कायम करने के लिए तुलसी ने 'रामचरित मानस' के साथ ही 'कवितावली' 'विनय पत्रिका', 'दोहावली' आदि रचनाओं में प्रयास किया । कवितावली में उन्होंने अपने युग की अराजकता का चित्रण करते हुए लिखा है -

बरन धरम गयो, आश्रम निवास तज्यो,

त्रासन चकित सो परावनो परो सो है ।

गोरस जगायो जोगु भगति भगायो लोगु,

निगम नियोग ते सो केलि ही छरो सो है ।[1]

तुलसी की दृष्टि में वर्णाश्रम के लोप से सारे समाज में अव्यवस्था फैल गयी है । सामाजिक बुराइयों एवं अव्यवस्था का कारण वर्णाश्रम धर्म का लोप है । वर्णाश्रम के लोप से कर्म एवं उपासना में बुरी भावना प्रवेश कर गयी है एवं ज्ञान नष्ट हो रहा है । तुलसी ने अपनी वर्णाश्रमवादी दृष्टि के

---

1. कवितावली : उत्तरकाण्ड, पृष्ठ - 205, पद - 84

संकुचित दायरे में ही समाज के उत्थान-पतन की कल्पना की । 'विनय-पत्रिका' एवं दोहावली के कलि वर्णन में भी तुलसी पतनशील सामन्ती व्यवस्था के नैतिक मूल्यों और सामाजिक-राजनीतिक आदर्शों के समर्थक रूप में ही सामने आते हैं -

"राज समाज कुसाज कोटि कटु, कलपित कलुष कुचाल नई है।
आश्रम-बरन-धरम-विरहित जग, लोक बेद मरयाद गई है।
प्रजापतित पाखण्ड पापरत, अपने-अपने रंग रई है ।"[1]

तुलसी ने सामन्ती दृष्टिकोण के अनुशासन में रहकर ही तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था के पाखण्ड और राज समाज को फटकारा है । तुलसी अपने युग की समाज व्यवस्था का विश्लेषण करते हुए मानसिक दुर्दशा को कुलीन शासक वर्ग की दृष्टि से देखते हैं । निम्न एवं शासित वर्ग की दृष्टि से नहीं ।

तुलसी जहाँ सामाजिक अव्यवस्था का कारण वर्णाश्रम धर्म का ह्रास मानते हैं वहीं कबीर ने सामाजिक अव्यवस्था का कारण वर्णाश्रम धर्म पर आधारित ऊँचनीच की भावना को माना है । तुलसी के पास सभी सामाजिक समस्याओं का एक ही समाधान है - शास्त्रमतवादी पौराणिकता पर आधारित वर्णाश्रम धर्म की स्थापना । इसी को तुलसी लोक एवं वेद की मर्यादा मानते हैं । कबीर वर्णाश्रम धर्म को असामाजिक सिद्ध करते हुए उस पर निम्नवर्ग की दृष्टि से विचार किया ।

जाति-पाँति, ऊँच-नीच एवं छुआछूत:-

भक्ति कालीन समाज विभिन्न धर्म, जातियों एवं सम्प्रदायों में विभक्त था । भारतीय समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था का प्राधान्य था । इस व्यवस्था में सम्पत्ति का स्वामी भू-स्वामी वर्ग होता है, संस्कृति और शिक्षा का कार्य ब्रह्मणों के हाथ में रहता है । भारतीय जाति व्यवस्था सम्पूर्ण विश्व में ऐसी व्यवस्था है जो भारतीय समाज रचना को विशिष्ट रूप देती है । इसका आधार वर्णाश्रम व्यवस्था ही है । वस्तुतः हमारी ग्राम एवं कृषि आश्रित अर्थव्यवस्था ने ही भारतीय जाति व्यवस्था को विशिष्ट रूप दिया है । मध्यकालीन शोषक-शासक सामन्त वर्ग के हितों की रक्षा के लिए वर्णाश्रम की मर्यादा को साधारण जनता पर आरोपित कर दिया था । यह कार्य कर्मकाण्डी ब्राह्मणों द्वारा सम्पन्न किया गया । जाति व्यवस्था कृषि आधारित ग्राम व्यवस्था की अनिवार्यता थी, जिसमें कर्म और पेशे के अनुसार जातियों का विभाजन हुआ था । ग्राम स्तर पर सभी जातियाँ एक दूसरे पर आश्रित थीं । नाई, कहार, धोबी, दर्जी, लुहार, बुनकर, माली, हरिजन आदि के अपने-अपने कर्म थे । इनमें से अधिकांश के लिए भू-स्वामियों और काश्तकारों की ओर से वार्षिक अनाज दिया जाता था । जहाँ प्रत्येक जाति की अपनी एकता और कई गाँवों की जातियों की सम्मिलित पंचायतें थीं, वहीं प्रत्येक गाँव की एक पंचायत भी होती थी । अपनी जातीय एकता के साथ ही गाँव अन्य जातियों की एकता के प्रति सजग थे । ब्राह्मण से लेकर हरिजन तक गाँव के प्रति अपनी निष्ठा रखते थे । इसी सहज व्यवस्था को असहज और शोषण-

मूलक बनाने में ब्राह्मण पुरोहित वर्ग का विशेष हाथ है । वेद, पुराण एवं शास्त्रों की आड़ में उसने उच्च जातियों की मिली भगत से निम्न जातियों के शोषण का मार्ग प्रशस्त किया । इसी क्रम में अधिकांश निम्न जातियाँ, विशेष रूप से अछूत और शूद्र समझी जाने वाली जातियाँ, अपने सामाजिक राजनीतिक एवं धार्मिक अधिकारों से ही नहीं, वरन् आर्थिक विकास के अधिकार से भी वंचित हो गई । कबीर के समय तक यह जातीय भेदभाव, ऊँच-नीच, एवं छुआछूत की भावना चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई थी ।

कबीर युगीन समाज में वर्णाश्रम की मर्यादा के कारण जातीय भेदभाव अत्यन्त विकराल रूप धारण कर चुका था । समाज में अस्पृश्यता एक घातक बीमारी के रूप में फैली हुई थी । छुआछूत की यह बीमारी समाज के उच्च वर्गों एवं पाखण्डी लोगों द्वारा फैलायी गयी थी । 'छूत' की इस बीमारी ने समाज को भयंकर रूप से जकड़ रखा था । कबीर की मूल प्रवृत्ति समता के आधार पर लोकमंगल बिधायिनी रही है । इसलिए उनसें ब्राह्मणवाद की सीमा के बाहर की जातियों का, समाज में होने वाला अपमान सहन नहीं हुआ । कबीर की अन्तश्चेतना ने उस समय के जर्जर समाज की जातिगत दुरावस्था एवं दुर्बलताओं का जीवन्त प्रतिबिम्ब अंकित किया। कथनी और करनी में अन्तर करने वालों पर व्यंग्य करते हुए कबीर कहते हैं - "कथणीं कथी तो क्या भया, जे करणी ना ठहराइ ।" निम्न कही जाने वाली जातियों के प्रति कबीर की सहज सहानुभूति उनकी वाणी में देखी जा सकती हैं । सदाचार एवं सदाशयता की कसौरी पर उन्होंने व्यक्ति

को श्रेष्ठ और हीन माना जो दुराचारी एवं दुष्ट है, वे कबीर की दृष्टि में नीच है-

कबीर यहु जग अन्धाला, जैसी अन्धी गाई ।
बड़ा था सो महि गया, अभी चाम चराई ।[1]

कबीर के समान में सारी व्यवस्थायें न्याय रहित थी । सामाजिक कुराईयों यथा जाति पाति, छुआछूत, ऊंच नीच, हिन्दू मुस्लिम संघर्ष चरम पर था । मानवीय भावनाओं से आम आदमी को सरोकार न था । प्रसिद्ध इतिहासकार बर्कले मध्ययुगीन समाज के बारे में लिखते हैं - "जनता की धर्मान्धता तथा शासकों की नीति के कारण कबीर के जन्मकाल के समय में हिन्दू मुसलमान का पारस्परिक विरोध बहुत बढ़ गया था । धर्म के सच्चे रहस्य को भूल कर कृत्रिम विभेदों द्वारा उत्तेजित हो कर दोनों जातियां धर्म के नाम पर अधर्म कर रही थी ।"[2]

कबीर के समय समाज अपनी निम्नतर अवस्था में था । धर्म के ठेकेदारों का साम्राज्य था और निम्न वर्ग शोषित जीवन व्यतीत कर रहा था । समाज की इस हीन स्थिति से द्रवित हो कर निगुण संतों ने क्रान्ति का सहारा लिया । उन्होंने इन विषम परिस्थितियों को दूर करने का बीड़ा

---

1. कबीर ग्रन्थकालीन स. श्याम सुंदरदास (अपारिष को अंग) दोहा 28, पृष्ठ 59
2. उद्धत, हिन्दी साहित्य: युग और प्रवत्तियां- शिव कुमार शर्मा,

उठाया - "साधारण जनता का सा सादगी में जीवन व्यतीत करने वाला संतों का एक ऐसा क्रान्तिकारी वर्ग था जिसने सभी अत्याचारों एवं दुर्व्यवस्थाओं के विरोध में अपना झंडा ऊचा किया । इन संतों में अधिकतर निम्न जाति के लोग थे, जो समाज एवं राज्य से तिरस्कृत थे ।[1]

कबीर ने सबसे अधिक आक्रोश ब्राह्मणों के ऊपर प्रकट किया। ब्राह्मण वह समुदाय था जो धार्मिक कर्मकाण्ड और वेद पुराण शास्त्र का सहारा ले कर जाति-पॉति, ऊंच-नीच एवं छुआ-छूत की भावना को और अधिक भयावह बना रहा था । ब्राह्मणों के छूत अछूत विचार की उन्होंने धज्जियां उड़ा कर रख दी । कबीर ने जातीय श्रेष्ठता पर विश्वास करने वालों को स्पष्ट रूप से अज्ञानी घोषित कर दिया । तत्कालीन समय में जाति-पांति के नाम पर होने वाले अत्याचारों को कबीर ने स्वयं झेला था। अतः इस विषाक्त वातावरण ने उन्हें जन्म से ही विद्रोही बना दिया था वे काशी के ब्राह्मणों को ललकार कर कह रहे थे - "तू बामन मै कासी का जुलाहा, चीन्हि न मोर गिपाना"[2] ब्राह्मणों की पवित्रता की भावना पर आघात करते हुए कबीर ने अत्यन्त सहज लेकिन अकाट्य तर्कों के सहारे उन्हें दुत्कारते हुए कहा - "काहे को कीजै पांडे छोति विचारा, छोतिहिं ने उपना सब संसारा" आगे कहते हैं - हमारे कैसे लीहू तुम्हारे कैसे दूध, तुम कैसे बामन पांडे हम कैसे सूद" अर्थात् दोनों के शरीर में एक ही प्रकार

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी: मध्यकालीन धर्म साधना, पृष्ठ 216.

2. कबीर ग्रन्थावली: सं. श्याम सुन्दर दास, पृष्ठ 128, दोहा 250.

का रक्त होने पर एक कैसे अपवित्र और दूसरा पवित्र बन सकता है ।

कबीर की विचारधारा धर्म - जाति तथा समाज तक सीमित नहीं थी - उसमें मानव मात्र के कल्याण की भावना थी । इस भावना ने समाज के नैतिक और धार्मिक दोनों प्रकार के उत्थान में सहयोग दिया। कबीर की सहज भावना जनहित की भावना थी । कबीर ने मनुष्य जाति के उत्थान के लिए नैतिकता का उच्च मानदण्ड प्रस्तुत किया तथा समाज एवं धर्म के क्षेत्रों में व्याप्त संकुचित विचारों का खण्डन किया । कबीर जनता के सुधारक एवं प्रतिनिधि कवि हैं । उनकी वाणी के प्रत्येक शब्द से जनहित की भावना झंकृत होती है । कबीर ने मनुष्य से "आत्म साक्षात्कार" की भावना पर बल दिया ।

कबीर की जीवनोद्देश्य मानव जीवन का पथ - प्रदर्शित करना था । समाज के शोषित पीड़ित मानव को भव बन्धन से मुक्त होने के लिये कबीर ने शाश्वत सत्य को अपनाने पर बल दिया । कबीर की साधना का अर्थ सामाजिक चिन्ता है । कबीर की कविता शोषण से त्रस्त मानव की पीडा को अर्थ प्रदान करती है । मध्यकालीन परिवेश में व्याप्त विसंगतियों, असंतुलन और वर्ण वर्ग भेद से उत्पन्न अलगाव को दूर करने का स्तुत्य प्रयास कबीर ने किया । समकालीन जटिल परिस्थितियों में कबीर का संघर्षशील व्यक्तित्व उभर कर सामने आता है । कबीर काव्य में जीवन मूल्यों की पुनर्स्थापना पर बल दिया गया है । संकीर्ण साम्प्रदायिकता के स्थान पर परस्पर सहिष्णुता और सहअस्तित्व की बात करने वाले कबीर अस्पृश्यता

के स्थान पर करूणा को रखाते हैं । सामाजिक न्याय एवं समता की भावना कबीर काव्य के आधारभूत तथ्व हैं । सशक्त जनकवि के रूप में कबीर की कविता आत्मपरिष्कार और समाज सुधार दोनों मार्ग साथ - साथ प्रशस्त करती चलती है ।

कबीर की विद्रोही चेतना की अनुगूंज उनके बाद तुलसी के लिये चुनौती सिद्ध हुई । वर्णाश्रमवादी जाति व्यवस्था के समर्थक तुलसीदास के लिये वह असह्य थी । शूद्रों द्वारा ब्राह्मणों के इस अपमान को उन्होंने कलयुग का प्रभाव मानाप । इसका तीखा प्रतिवाद करते हुए उन्होंने कहा -

बादहिं सूद्र द्विजन सन हम तुम्हते कछु घाटि ।
जानहु ब्रह्म सो विप्रवर आँखि देखावहिं डाटि ।[1]

तुलसी की यह अकुलाहट निर्गुण संतों के उपदेशों से ही पैदा हुई है । वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक तुलसी को यह असह्य था कि शूद्र ब्रह्मजान की चर्चा करें । तुलसी ने राम कथा का सहारा ले कर ब्राह्मणों की श्रेष्ठता और शूद्रों की हीनता को सिद्ध करने का प्रयास किया । अपने इस प्रयास में वे सदाचार एवं नैतिक सीमा का उल्लंघन भी कर जाते हैं-

"पूजिय विप्र शील गुन हीना । सूद्र न गुन-गन जान प्रवीना"[2]

---

1. कवितावली : पृष्ठ 190, पद सं. 555
2. रामचरित मानस - अरण्य काण्ड पृ0 383, पद 34

या" ढोल गवार सूद्र पशु नारी । सकल ताड़ना के अधिकारी ।[1]

या "अब जनि करहि विप्र अपमाना । जानुसे संत अनंत समाना।[2]

इन सभी उदाहरणों से तुलसी की वर्णाश्रम सम्बन्धी दृष्टि को लक्ष्य किया जा सकता है । शूद्र विषयक तुलसी की मान्यता ब्राह्मण-शूद्र के द्वन्द से उत्पन्न हुई है । अत्यन्त उपेक्षित एवं पददलित होने के कारण इस वर्ग ने ही ब्राह्मण सत्ता को चुनौती दी थी । इस चुनौती का सांस्कृतिक स्तर पर कबीर ने प्रतिनिधित्व किया ।

अतः तथ्यों के उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि जाति - पाँति, ऊंच-नीच, छुआछूत आदि सामाजिक समस्याओं को लेकर कबीर एवं तुलसी की दृष्टि केवल भिन्न ही नहीं वरन् परस्पर विरोधी भी थी । उनके द्वारा दो परस्पर विरोधी हितों, दो विरोधी वर्गीय रुख एवं रुझानों की अभिव्यक्ति हुई है ।

पुनर्जन्म, कर्मफल एवं भाग्यवाद :

भारतीय हिन्दू समाज में पुनर्जन्म एवं कर्मफल की मान्यता विशिष्ट स्थान रखती है । इस मान्यता ने जन सामान्य को भाग्यवादी बना दिया। भाग्यवाद के कारण ही इसमें अकर्मण्यता भी आयी । ये तीनों सिद्धान्त

---

1. रामचरित मानस : सुन्दर काण्ड, पृष्ठ 444, पद 59

2. वही, पृष्ठ 588, पद 109

एक दूसरे पर आश्रित हैं । इन तीनों की मान्यता के अनुसार अपने पिछले जीवन में किये गये कार्यों का फल अगले जन्म में भोगना पड़ता है । कर्मफल के बन्धन से मनुष्य मुक्त नहीं हो सकता । यह मान्यता उसे भाग्यवादी भी बना देती है । इससे स्पष्ट है कि पुर्नजन्म एवं भाग्यवाद का आधार भी कर्मफल का सिद्धान्त ही है ।

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "कर्मफल का सिद्धान्त भारत की अपनी विशेषता है । पुनर्जन्म का सिद्धान्त खोजने पर अन्यान्य देशों के मनीषियों में पाया जा सकता है, किन्तु यह कर्मफल का सिद्धान्त और कहीं भी नहीं मिलता ।[1] भारतीय जन जीवन में कर्मफल के इस सिद्धान्त के अत्यन्त घातक प्रभाव की ओर संकते करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है - "संसार की समस्त जातियों से उन्हें (भारतीयों को) यह सिद्धान्त अलग कर देता है - इसका सुदूर प्रसारी परिणाम समस्त भारतीय समाज को प्रभावी किये हुए है । इसने निश्चित रूप से हिन्दुओं की मनोवृत्ति को इस प्रकार मोड़ दिया है, जिसकी तुलना समस्त संसार में नहीं मिल सकती। हजारों वर्षों से भारतीय इतिहास में जो जन्म से नीच समझी जाने वाली जातियों में उत्कृष्ट विद्रोह का भाव नहीं आया, वह इसी सिद्धान्त को स्वीकार करने के कारण। प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि उसके लिए कर्मफल दूर नहीं हो सकता । चाण्डाल अपनी दुर्गति के लिए कर्म की दुहाई देता है । प्रत्येक व्यक्ति अपने - अपने कर्मों के प्रति जवाबदेह है । कोई

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी - अशोक के फूल - पृ0 62-63.

न तो किसी दूसरे के बदले उसे भोग सकता है और न उद्योग कर के संचित और प्रारब्ध कर्मो को बदल ही सकता है - जो कुछ हो रहा है उसका निश्चित कारण है । उसे बदला नहीं जा सकता ।"[1] इससे स्पष्ट है कि कर्मफल की मान्यता के आधार पर अनेक सामाजिक विकृतियों को प्रश्रय और बढ़ावा मिला है जिसमें जाति-पांति, ऊंच-नीच की भावना को जन्म के साथ जोड़ दिया गया । कबीर आदि निर्गुण संतो को यह स्थिति स्वीकार नहीं थी ।

सिद्ध - नाथ साधकों और निर्गुण संतों ने इन सामाजिक विकृतियों का विरोध कियाप । कबीर ने समाज के सामने धर्म एवं ईश्वर के नाम पर सभी मनुष्यों की एकता और समानता की भावना पर बल दिया । उन्होंने स्पष्ट कहा कि सभी मनुष्य ईश्वर के बनाये हुए हैं । उनमें ऊंच-नीच का भेदभाव करना ईश्वर के प्रति अपराध है । ब्राह्मण शूद्र सभी को धर्म, कर्म का समान अधिकार है, क्योंकि सबके लिये यही मोक्ष प्राप्ति या आवागमन के बंधन से मुक्ति का एक मात्र उपाय है । कबीर ने कहा कि राम की सहज भक्ति से भक्त स्वयं राम हो जाता है । भक्ति के क्षेत्र में कर्मफल के सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए कबीर ने कहा कि यहाँ कर्म का कोई वश नहीं चलता । कर्मफल के कारण ही कोई उच्च या निम्न वर्ग में जन्म लेता है, इसे कबीर ने अस्वीकार किया ।

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी: अशोक के फूल - पृ0 62.

निर्गुण मत के विरोधी, वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक तुलसी ने कर्मफल, पुनर्जन्म एवं भाग्यवाद की पुर्नप्रतिष्ठा का अभियान अपने "रामचरित मानस" के माध्यम से चलाया । तुलसी ने "मानस" में जिस उत्साह के साथ अवतारवाद की प्रतिष्ठा का आयोजन किया था, उसी उत्साह के साथ कर्मफल एवं पुर्नजन्म की मान्यता को भी प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया । "राम चरित मानस" के अधिकांश पात्र अपने पूर्व जन्मों के कर्मो का फल भोगते हुए दिखाये गये हैं । अयोध्या में राम वनवास के समय दशरथ स्वयं कहते हैं -

"सुभ अरू असुभ करम अनुसारी । ईस दइ फल हृदय विचारी।
करई जै करम पाव फल सोई । निगम नीति अहित कह सब कोई।।[1]

अयोध्या काण्ड में ही लक्ष्मण निषाद को समझाते हुए कहते हैं कि राम वनवास के लिए कैकेयी या अन्य किसी को दोष देना ठीक नहीं है - "काहु न कोउ सुख दु:ख कर दाता । निज कृत करम भोग सबु भ्राता ।[2] तुलसीदास की दृष्टि में कर्मफल ही मनुष्य का भाग्य होता है, जिसे वह जन्म जन्मान्तर तक भोगता रहता है । शूद्र योनि में पैदा होने वाला कागभुशुन्डि चौरासी लाख योनियों में भटकता हुआ अन्त में कौवे की योनि में जन्म लेता है । अपने शूद्र जन्म में उसने गुरु का अपमान

---

1. रामचरित मानस : अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ 239, दोहा 77.

2. रामचरित मानस : बालकाण्ड, पृष्ठ 246, दोंहा 92.

किया था, जिससे क्रुद्ध हो कर शिव ने उसे शाप दिया था - "जो नहिं दण्ड करौ खल तोरा भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा ।[1] कागभुशुन्डि का मुख्य अपराध ब्राह्मण एवं गुरु का अपमान तथा उनके साथ वाद - विवाद है उसके शाप को उदार बनाते हुए शिव यह शर्त रखते हैं - "अब जनि करहिं विप्र अपमाना । जानेसु संत अनंत समाना।[2].

इससे स्पष्ट है कि तुलसीदास ने अपने पुनर्जन्म, कर्मफल और भाग्यवाद सम्बन्धी मान्यताओं का उपयोग ब्राह्मण एवं गुरु की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए ही किया है । इसके लिए उन्होंने "द्विज देह को सुर दुर्लभ चरम देह" के रूप में स्वीकार किया है । निर्गुण साधकों ने जिस कर्मफल एवं भाग्यवाद को सामाजिक विकृति के रूप में देखा था वही तुलसीदास ने उसे मान्यता प्रदान कर मनुष्य को भाग्यवादी बनाने का प्रयास किया भाग्यवाद जो अकर्मण्यता का मूल कारण है, उसे तुलसी ने समर्थन किया।

स्पष्ट है कि तुलसीदास ने कर्मफल एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त द्वारा अन्ततः लोक वेद की वर्णाश्रम धर्मी मर्यादा की रक्षा का ही प्रयास किया है । उनकी एतद्विषयक मान्यतायें कबीर की सामाजिक समता की भावना के विरोध में जान पड़ती हैं । अतः इस दृष्टि से कबीर व तुलसी के सामाजिक दृष्टिकोण में स्पष्ट विरोध दिखाई देता है ।

---

1. रामचरित मानसः उत्तर काण्ड, पृष्ठ 586, पद 107

2. वही, पृष्ठ 588, पद 109 क.

स्त्री प्रश्न :

सगुण काव्य धारा शास्त्रीय एवं परम्परावादी विचारों के समर्थक हैं । वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थन सगुण काव्य धारा के कवियों ने किया है । सगुण काव्य धारा के साहित्यिक महत्व के मूल्यांकन में अनेक नैतिक-सामाजिक प्रश्नों का उत्तर अनिवार्य हो जाता है । तुलसीदास एवं सूरदास के ग्रन्थों में ऐसी अनेक उक्तियाँ हैं, जो किसी भी देशकाल की नारी के प्रति न्याय नहीं करती । तुलसीदास एवं सूरदास दोनों ने नारी की प्रकृति, उसके चरित्र, बृद्धि, विवेक, आचार -व्यवहार, सभी की निन्दा की है । तुलसी का नारी विषयक दृष्टिकोण शूद्रों की भाति ही अनुदार माना जाता है । तुलसी ने नारी को शूद्र के वर्ग में रखापा - "ढोल, गँवार, शूद्र, पशु नारी । सकल ताड़ना के अधिकारी।।[1] तुलसी ने ढोल, गँवार की पंक्ति में नारी को रख कर उसे "ताड़ना" का ही अधिकारी घोषित किया । तुलसी ने नारी को अष्ट अवगुणों से परिपूरित कर उसकी निन्दा की - "साहस, अनृत, चपलता, माया । भय, अविवेक, असौच, अदाया ।।[2]. तुलसीदास जी घोषणा करते हैं कि नारी स्वतंत्र होकर मार्ग भ्रष्ट हो जाती है - "जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहिं नारी" । तुलसी नारी को सहज अज्ञानता के कारण तत्व दर्शन की अधिकारिणी नहीं मानते - "जदपि जोषिता अन अधिकारी" । इसी प्रकार नारी के आचार विचार को भी तुलसी ने मलिन माना है - "कहं हम लोक - वेद- विधि - हीनी । लघु तिय कुल

---

1. रामचरित मानस : सुन्दर काण्ड, पृष्ठ 444, पद 59
2. रामचरित मानस : लंकाकाण्ड, पृष्ठ 411, पंक्ति 12, 13.

करतूति मलीनी ।" नारी के प्रति इससे अधिक अन्याय नहीं किया जा सकता निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि तुलसी की दृष्टि नारी के प्रति बहुत अनुदार रही है ।

कृष्ण भक्त कवियों ने नारी की निन्दा की है । सूरदास ने लिखा है -

"नागिनि के काटे विष होई । नारी चितवन नर रहे मोइ,
नारी सौं नर प्रीति लगावै । पै नारी तिहिं मन नहिं ल्यावैं ।[1]

नारी के लिए अग्नि के रूपक का भी कृष्ण काव्य में अभाव नहीं है ।

निर्गुण भक्त कवियों ने कहीं - कहीं पर नारी की निन्दा की है । किन्तु नारी की चाहे जितनी निन्दा संतों ने की हो उनकी स्त्री-पुरुष के लिए समदृष्टि भी रही है । कबीर नारी की निन्दा करते हुए यह भी कहते हैं कि पुरुष एवं नारी सभी नरक हैं । जब तक देह में सकाम भाव रहता है तब तक दोनों ही निन्दनीय हैं । निष्काम ईश्वर स्मरण से सभी राम के हो जाते हैं -

"नर नारी सब नरक हैं, जब लग देह सकाम ।
कहै कबीर ते राम के, जे सुमिरै निहकाम ।।[2]

---

1. सूर सागर, पृष्ठ 180, पद संख्या - 446.

नारी के सम्बन्ध में मध्य युग में विशेष बात यह हुई कि इन भक्तों ने स्त्रियों को भी भक्ति के क्षेत्र में बराबरी का स्थान दिया । डा. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल का कथन है कि निर्गुण भावधारा के संतों को स्त्रियों से कोई द्वेष नहीं था, वरन् उन्होंने स्त्रियों को अपवनी शिष्याओं के रूप में स्वीकार किया था । सहजोबाई, दयाबाई, निर्गुण भक्ति धारा की स्त्री भक्तों का उदाहरण हैं ।[1] हिन्दी में सूफी काव्य में परमेश्वर को स्त्री रूप में मान कर ही आत्मा रूपी पुरुष उसे पाने का साधन करता है । इस विचार धारा के साथ स्त्री सम्बन्धी उस प्रकार के कथन हो ही नहीं सकते, जिस प्रकार अन्य भक्ति धाराओं के संत कवियों ने दिये हैं।

मध्यकालीन समाज में सामन्तवाद ने जीवन के प्रति जो अस्वीकृति के दृष्टिकोण का प्रचार किया, इसका एक रूप स्त्री पुरुष के सहज प्रेम को पाप समझता है । इस दृष्टिकोण के जरिये वह स्त्री पुरुष के प्रेम का दमन करता है । इसके विरुद्ध कृष्ण भक्त कवियों ने जीवन के प्रति स्वीकृति का दृष्टिकोण अपनाया एवं कृष्ण लीला के माध्यम से स्त्री पुरुष के स्वरूप प्रेम को अभिव्यक्ति दी । सूर की कविता न केवल मध्यकालीन सामंती मानसिकता का तिरस्कार करती है बल्कि वह स्वस्थ एवं कुंठाहीन प्रेम चित्रण की नयी भूमियों एवं नये प्रतिमानों की सृष्टि भी करती है । अपने प्रेम चित्रण में सूर ने जीवन के सहज उल्लास तथा यौवन के सहज

---

1. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय - डा. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृष्ठ 328.

आवेग को नितान्त वर्जनाहीन अभिव्यक्ति दी है । सूर द्वारा चित्रित बाधा-बन्धन-विहीन यह जो समाज है और इस समाज में अपनी समूची गहराई और मुक्तता के साथ उनका यह जो प्रेम है, वह मध्यकालीन रुढ़ि-जर्जर, भांति - भांति की वर्जनाओं से ग्रस्त सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन के प्रति सूर की निहायत ही सात्विक तथा उतनी ही तीखी प्रतिक्रिया झलकती है । मध्यकाल की घुटन भरी सामंती जिंदगी और उसके तमाम सारे जर्जर नियमों, नीतियों, कानून - कायदों के प्रति जीवन की सहजता में आस्था रखने वाले सूरदास का यह सात्विक कोष ही है । सगुण भक्त कवियों में तुलसी की अपेक्षा सूर की नारी दृष्टि अधिक उदार है ।

कृष्ण भक्ति परम्परा में माना गया है कि श्री कृष्ण की अविरल भक्ति के लिए आवश्यक है पूर्ण आत्मसमर्पण और आत्मसमर्पण सबसे अधिक व्यक्त होता है स्त्री रूप में । कृष्ण भक्ति की माधुर्य भाव की उपासक मीराबाई जिन्होंने न कोई अपना सम्प्रदाय चलाया और न किसी सम्प्रदाय में दीक्षित हुईं ।

मीरा ने कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य प्रेम निष्ठा सीधे - सीधे व्यक्त की । उन्होंने अपने गिरधर गोपाल के लिए सगे सम्बन्धी, राज - परिवार सब कुछ छोड़ दिया । पैरों में घुँघरू बांध कर गिरधर के आगे नाचने गाने लगीं । यह सहज नाचना गाना ही नहीं था, इसने सामन्ती मर्यादा और आतंक को खुली चुनौती दी । मीरा के पदों में जहाँ कृष्ण के प्रति निश्छल समर्पण और अविरल प्रेम व्यक्त हुआ है, वहीं सामन्ती मर्यादा के

के प्रति कबीराना ललकार सुनाई देती है । वे झूठी सामन्ती कुल मर्यादाओं को बेपर्दा करती हैं । सूर साहित्य में गोपियों के प्रेम का सामंत विरोधी मानव मूल्य स्पष्ट करते हुए डा0 राम विलास शर्मा लिखते हैं - "गोपियों का प्रेम लोक धर्म और कुलकानि के लिए चुनौती है । उनका कृष्ण से संयोग और वियोग दोनों मानव प्रेम का जयगीत है जो सामंती समाज के जाति, वर्ण और सम्पत्ति के बन्धन को तोड़ कर प्रवाहित हुआ था।[1] नारी के प्रश्न पर कृष्ण काव्य धारा, राम काव्य धारा की तुलना में अधिक उदार एवं विस्तृत मानवीय दृष्टिकोण रखता है ।

कबीर तथा तुलसी की सामाजिक दृष्टि की प्रासंगिकता:

कबीर जैसे युगदृष्टा और क्रान्तिकारी कवि विचारक तथा तुलसी जैसे महान् कलाकार चिन्तक की प्रासंगिकता पर विचार करते समय उनकी युगीन सामाजिक धार्मिक संदर्भों पर ध्यान रखना आवश्यक है, क्योंकि उनकी वैचारिकता का ठोस आधार सामाजिक धार्मिक संदर्भ ही है । दोनों ही कवि सामन्ती समाज व्यवस्था की देन हैं, जिसका आर्थिक आधार भूमि व्यवस्था और ग्रामीण अर्थतंत्र था, तो वैचारिक आधार वर्णाश्रम व्यवस्था। इन दोनों व्यवस्थाओं में जाति - पांति, ऊंच नीच, छुआ छूत की भावना को सामाजिक स्वीकृति प्राप्त थी । जिस पर कबीर ने प्रहार किया । अपने इस रूप में कबीरदास उत्तर भारत की निर्गुण भक्ति आन्दोलन से पुरस्कर्ता

---

1. राम विलास शर्मा: आचार्य शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृष्ठ 101.

ही नहीं, वरन् शोषित, उत्पीड़ित, दलित जातियों से सम्बद्ध बहुसंख्यक समुदाय के प्रतिनिधि भी थे ।

भक्ति काल में निर्गुण मत के विरुद्ध सगुण मत का संघर्ष निम्न वर्गो के विरुद्ध उच्च वर्गो का संघर्ष भी था । निर्गुण - सगुण के माध्यम से तत्कालीन व्यवस्था की दो परस्पर विरोधी सामाजिक - सांस्कृतिक शक्तियों की टकराहट प्रकट हुई, जिसमें प्रथम के प्रतिनिधि कबीर तथा दूसरी के तुलसीदास जी थे । मध्य कालीन भक्ति आन्दोलन में निर्गुण - सगुण का संघर्ष मात्र दो धर्म मतों या दो उपासना पद्धतियों का संघर्ष न होकर कालान्तर में परस्पर दो विरोधी वर्ग हितों और वर्गीय अभिरुचियों का सामाजिक संघर्ष भी बन गया था । तत्कालीन समाज दो वर्गो में विभक्त था । एक तरफ उच्च वर्ग था तो दूसरी ओर किसान मजदूर और उससे जुड़े बहुत सारी निम्न जातियों का विशाल जन समुदाय था । पहले वर्ग में राजन्य वर्ग के साथ पण्डे पुरोहित का समुदाय आ जाता है, जो भौतिक - आर्थिक उत्पादन से पूरी तरह कट कर उपभोक्ता मात्र रह गया था । दूसरा समुदाय भौतिक आर्थिक उत्पादन से पूरी तरह जुड़ा रहने के बावजूद भौतिक आध्यात्मिक दोनों ही सुविधाओं से वंचित था । इस बहुसंख्यक वंचित वर्ग के सामाजिक आर्थिक विकास पर ही समाज का वास्तविक विकास निर्भर करता है । सामाजिक उत्पादन में अपनी प्रमुख भूमिका के कारण यही वर्ग प्रगतिशील था । अतः इसके उत्थान में सहयोग देने वाला कवि ही प्रगतिशीलता का

वाहक बंन कर अधिक प्रासंगिक होता है । अति उपेक्षित जाति में उत्पन्न कबीर इस उत्पादक वर्ग समुदाय से सम्बद्ध थे और उसके बेहतरी के लिए प्रयत्नशील थे ।

निर्गुण मतावलम्बी कबीर के विपरीत तुलसीदास उपभोक्ता वर्ग की वर्णाश्रमधर्मी चेतना से जुड़े हुए थे । तुलसी भी जन सामान्य की सामाजिक धार्मिक मुक्ति के पक्षपाती थे, किन्तु उनकी मुक्ति सम्बन्धी धारणा उपभोक्ता वर्ग के धार्मिक - सामाजिक संस्कारों से मर्यादित थी । इसीलिए उनका मूल आधार उत्पादक वर्ग का विशाल जन समुदाय नहीं था, जो शोषित, उत्पीड़ित एवं विकास के धार्मिक - सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों से भी वंचित था ।

निर्गुण काव्यधारा में कबीर से लेकर रैदास, दादू, सेन, पीपा, मलूकदास अधिकांश संत ग्रहस्थ थे । वे बुनकर, मोची, नाई, दर्जी आदि के पेशेवर व्यवसाय से जुड़े हुए थे । एक तरफ वर्णाश्रमवादी व्यवस्था इन पेशों को ही इन जातियों का धर्म बताती थी और इसी में उनका उद्धार सिद्ध करती थी, तो दूसरी ओर इन्हें निम्न और हीन मान कर उपेक्षा की दृष्टि से देखती थी । निर्गुण पंथियों के विपरीत अधिकांश सगुण भक्त गृहस्थ जीवन का त्याग का भक्ति के क्षेत्र में आये थे । अतः इनकी सामाजिक - सांस्कृतिक चेतना उत्पादक वर्ग से विछिन्न थी । जिस राम भक्ति को उन्होंने चुना उसे अपनाने वाला एक भी शूद्र या मुसलमान भक्त नहीं हुआ।

वेद - शास्त्रानुमोदित और वर्णाश्रम की पौराणिक मान्यता पर आधारित उस भक्ति शाखा में निम्न वर्गों के लिये कोई जगह नहीं थी । तुलसीदास ने भी लोकमंगल एवं जन सामान्य के कल्याण का ही उद्देश्य अपने सामने रखा है, फिर भी सगुण एवं निर्गुण मतावलम्बियों की जनता की मुक्ति से सम्बन्धित धारणायें परस्पर भिन्न ही नहीं वरन् एक दूसरे की विरोधी भी हैं ।

कबीर ने अपने युग की सामाजिक विसंगतियों पर प्रहार किया। कबीर ने अपने काव्य का आधार शास्त्रों की अपेक्षा आँखों देखी एवं प्राथमिक प्रामाणिक अनुभवों को माना । वह साधारण मनुष्य की नब्ज पहचानते थे, इसीलिए अपने सामाजिक परिवेश के प्रति अधिक जागरूक थे । कबीर समाज के वैषम्य को दूर कर विभिन्न वर्गों में सूत्रबद्धता, सामंजस्य की भावना पैदा करना चाहते थे । कबीर ने अपनी साहसी एवं ओजस्वी वाणी द्वारा समाज का यथार्थ अंकन अपने काव्य में किया है । कबीर वैयक्तिकता की भावना को सामाजिकता की भावना में विलय कर के समाज में लोकमंगलकारी चेतना का प्रसार करना चाहते थे । कबीर की मानव कल्याणकारी विचार धारा ने समाज के नैतिक और धार्मिक उत्थान में सहयोग दिया । कबीर ने जहां एक ओर लोगों को रुढ़ि आडम्बरों से मुक्ति दिलाने का प्रयास किया, वहीं दूसरी ओर जन सामान्य को निडर जीवन यापन की प्रेरणा दी । कर्मकाण्डों और मिथ्याचारों को त्याग कर समतापूर्ण जीवन बिता कर ही मनुष्य जीवन में सफलता प्राप्त कर सकता है । साम्प्रदायिकता, छुआछूत, ऊंच - नीच जैसी

भावनायें वर्ग - संघर्ष उत्पन्न करती हैं तथा सामाजिक विकास के मार्ग को अवरुद्ध करती हैं । अपनी ओजस्वी वाणी और क्रान्तिकारी विचारों के द्वारा अनाचार और शोषण का विरोध किया ।

मध्यकाल में धार्मिक कट्टरता, कर्मकाण्ड एवं वाह्याडम्बरों को प्रधानता के कारण आध्यात्मिका के नाम पर विभिन्न मतवादों का प्राधान्य था । कबीर ने अस्त - व्यस्त धार्मिक परिवेश को संभालने की कोशिश की। उन्होंने हिन्दू - मुस्लिम धर्मों में व्याप्त आडम्बरों, कुरीतियों, पाखण्डों का खुल कर विरोध किया । कबीर ने सभी धर्मों के बीच सामंजस्य स्थापित करने का सराहनीय प्रयास किया । राम एवं रहीम की एकता के माध्यम से कबीर ने हिन्दुओं एवं मुसलमानों की सामाजिक एकता तथा मनुष्य मात्र की समानता पर बल दिया । कबीर की इस विचारधारा से दोनों सम्प्रदायों के उपेक्षित पददलित जातियों में आत्म विश्वास एवं गौरव का भाव जागा।

निर्गुण मत के विरुद्ध सगुण मत में अवतारवाद, कर्मफल, पुनर्जन्म- भाग्यवाद आदि के सहारे पौराणिक वर्णाश्रम व्यवस्था की प्रतिष्ठा हुई । सगुण मत का सहारा लेते हुए तुलसीदास ने रामचरित मानस, दोहावली, कवितावली, विनयपतिका आदि रचनाओं में कलि वर्णन के माध्यम से उन्होंने मनुष्य मात्र की समानता पर आधारित कबीर एवं उनके निर्गुण पंथ द्वारा स्वीकृत आदर्शों का खाण्डन किया । इसके साथ ही उन्होंने अपने अधिकारों के लिये जागृत साधारण जनता को, प्रजा के रूप में पाखण्डी एवं पापी कह

कर दुत्कारा है । साधारण प्रजा के साथ ही तुलसी ने राज समाज की भी निन्दा की, लेकिन अपने वर्णाश्रमवादी सामन्ती सामाजिक दृष्टि के अनुशासन में रह कर ही । तुलसी की भाग्यवादिता अपनी सामाजिक दुर्दशा से मुक्ति पाने के लिए प्रजा को सिर उठाने का अधिकार नहीं देती । तुलसी समाज स्थिति का विश्लेषण करते हुए सामाजिक दुर्दशा का चित्र उपस्थित करते हैं, किन्तु इन सारी स्थितियों को वे कुलीन एवं सम्पन्न शासक वर्ग की ही दृष्टि से देख पाते हैं, गरीब एवं शोषित निम्न वर्ग की दृष्टि से नहीं।

तुलसी के विपरीत कबीर की सामाजिक स्थिति का वास्तविक श्रोत निम्न वर्गीय जातियों का समुदाय है । इसीलिए वे इस वर्ग की दृष्टि से ही धर्म एवं समाज को देख सकने में समर्थ हुए हैं । निर्गुण - सगुण के ऐतिहासिक संघर्ष में कबीर के निर्गुण पंथ की पराजय हुई । लेकिन जय - पराजय के आधार पर दोनों के सही या गलत होने का निर्णय नहीं किया जा सकता । निर्गुण पन्थ की प्रासंगिकता इस बात में है कि उसने देश की बहुसंख्यक शोषित उत्पीड़ित जनता के पक्ष में समर्थन किया और उसके संघर्ष को आगे बढ़ाया । इस प्रकार उसने प्रगतिशील शक्तियों का साथ दिया ।

निर्गुण - सगुण के विवाद को रेखांकित करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है कि कृष्ण शक्ति द्वारा सगुण भक्ति की स्थापना के बाद उत्तर भारत में वर्णाश्रम धर्म की पुनः स्थापना का कार्य सुगम हो गया था, तुलसीदास

के अदम्य व्यक्तित्व ने इस कार्य को पूरा कर दिया । इस प्रकार भक्ति आन्दोलन, जिस पर प्रारम्भ में निम्न जातियों का सर्वाधिक जोर था, उस पर अब ब्राह्मणवाद पूरी तरह छा गया और सुधारवाद के विरुद्ध पुराण मतवाद की विजय हुई ।"[1]

किन्तु आज के संदर्भ में कबीर एवं तुलसी के साहित्य की प्रासंगिकता पर विचार करते हुए यह भी देखना होगा कि कबीर एवं तुलसी का साहित्य किन सामाजिक वास्तविकताओं से उत्पन्न हुआ है, अर्थात् किन सामाजिक सांस्कृतिक शक्तियों ने अपने को उसमें प्रकट किया है ? दोनों के आग्रह अनुरोध क्या हैं ? इस प्रभाव के संदर्भ में देखा जाय तो तुलसीदास चाहे जितने बड़े कवि कलाकार हों, कबीर की तुलना में उन्हें पुरातनवादी ही कहा जायेगा । कबीर को हम अधिक आधुनिक एवं अपने नजदीक पाते हैं, क्योंकि तुलसीदास की वर्णाश्रमवादी सामाजिकता की अपेक्षा कबीर की जनवादी सामाजिकता आज अधिक प्रासंगिक है ।

भक्ति आन्दोलन और भक्ति - साहित्य का समग्र मूल्यांकन करते हुए कई महत्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं, जिन पर संदर्भवश मैंने विचार करने की कोशिश की है । भक्ति आंदोलन के उदय के प्रश्न को आचार्य शुक्ल ने सीमित संदर्भों में व्याख्यायित किया है, जिससे इस पर विवाद की सम्भावनाएं बनी रहती हैं । इसीलिए शुक्ल जी के बाद आचार्य द्विवेदी एवं

---

1. मुक्ति बोध रचनावली , खण्ड - 5, पृ0

अन्य प्रमुख विद्वानों ने भक्ति-आन्दोलन के उद्भव पर विस्तारपूर्वक विचार किया और आज भी वह विचार - विमर्श का केन्द्र बना हुआ है । भक्ति आन्दोलन का स्वरूप राष्ट्रीय जनांदोलन का था, पर उसका क्षेत्रीय स्वरूप भी था । पहले दक्षिण भारत में भक्ति-आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ, फिर वह महाराष्ट्र से होते हुए उत्तर भारत में प्रसरित हुआ । हिन्दी क्षेत्र में भक्ति आन्दोलन की अनुगूँज सबसे बाद में सुनाई देती है । परन्तु जैसा कि के. दामोदरन का मानना है भक्ति आन्दोलन का नेतृत्व कहीं भी ब्राहमण पुरोहितों अथवा उच्च वर्ण वाले अभिजात वर्गीय लोगों ने नहीं किया । भक्ति आन्दोलन की एक केन्द्रीय विशेषता यह भी है कि उसने सामंती जीवन मूल्यों तथा सांस्कृतिक आदर्शों का हर क्षेत्र में विरोध किया और ईश्वर के सम्मुख जनता की समानता और एकता को स्थापित किया जो पुरोहितवाद और सामंतवाद के गैर बराबरी के सिद्धान्त का प्रत्याख्यान था। भक्ति साहित्य के मूल स्तर मानवीय गरिमा का गायन है, मनुष्य में और जीवन में कवि की गहरी आस्था है । दार्शनिक प्रश्नों - ब्रह्म, जीव, आत्मा, जगत के स्वरूप पर भक्त कवियों में भले ही असहमति या मत विभिन्नता हो, पर इस बात में सभी एक मत हैं कि "सबेर उपर मानुष सत्य" (चण्डीदास)। स्वान्तः सुखाय की रचना का आदर्श रख कर भक्ति साहित्य ने दरबारी या राज्यआश्रय प्राप्त साहित्य के सामंती आदर्श को चुनौती दिया ही, रचनाकार की निजता व उसके स्वातंत्र्य की भी रक्षा की । इसीलिए डा० राम विलास शर्मा ने इसे "सामंतवाद - विरोधी लोक जागरण का साहित्य कहा है ।

हिन्दी क्षेत्र में भक्ति आन्दोलन के स्वरूप पर वर्गीय सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर पहली बार मुक्ति बोध ने ध्यान आकर्षित किया उनके विश्लेषण से भक्ति साहित्य और आन्दोलन के बारे में स्वीकृत कई महत्वपूर्ण निष्कर्ष, पहली बार प्रश्नचिन्ह के दायरे में आ गये । सगुण भक्ति साहित्य में पुरोहितवादी सांस्कृतिक चेतना के समर्थन की अनुगूँज तथा निर्गुण साहित्य में वर्ण व्यवस्था के सांस्कृतिक आदर्श का प्रखर विरोध अनायास नहीं था, बल्कि इसका मूल कारण कवियों की सामाजिक-वर्गीय स्थिति है । निर्गुण साहित्य में वर्ण व्यवस्था के मूल्यों के विरोध के साथ ही प्रतिगामी सामाजिक - सांस्कृतिक आदर्शों का भी विरोध है, जो समाज की गतिशीलता को बाधित कर रहे थे । तुलसी के आकांक्षाओं का राज्य रामराज्य तुलसी के सांस्कृतिक आदर्शों को समझने के लिए बहुत जरूरी हैं । वह वर्ण व्यवस्था तथा जाति बंधन के शिथिल होने पर आक्रोशित हैं । समाज में हो रहे आधुनिक परिवर्तनों के प्रति तुलसी या सगुण कवियों का दृष्टिकोण सकारात्मक न था । परन्तु निर्गुण धारा के भक्त कवियों व संतों के लिये यह परिवर्तन काम्य था । इसीलिए वे बार-बार धर्म और संस्कृति की जड़ताओं को पुनर्जन्म, स्वर्ग, परलोक, मोक्ष, पत्थर पूजा, आदि पाखण्डों के माध्यम से बार बार उजागर करते हैं । इन सभी प्रश्नों का समाजशास्त्रीय धरातल पर ही सम्यक विश्लेषण संम्भव है । भक्ति साहित्य के समाज शास्त्र को समझे बिना इन प्रश्नों पर विचार सम्भव नहीं है । अंत में एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि इतने विराट मानवीय संदर्भों के मूल्यबोध पर आधारित भक्ति साहित्य में कवियों के "मोक्ष" का "स्वर" व्यक्तिगत

क्यों है, जबकि सम्पूर्ण सामाजिक - मुक्ति का स्वर साहित्य में अनुस्यूत है । दरअसल इसका कारण भी समाजशास्त्रीय ही है । वह "मोक्ष" व्यक्तिगत नहीं है, उस "निज" या "आत्म" में 'वयम" समाहित है ।

*****
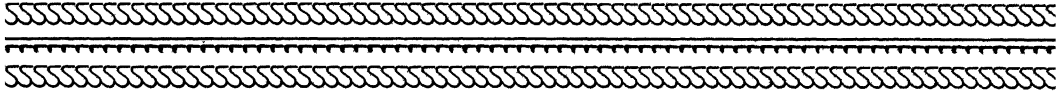
सन्दर्भ - सूची
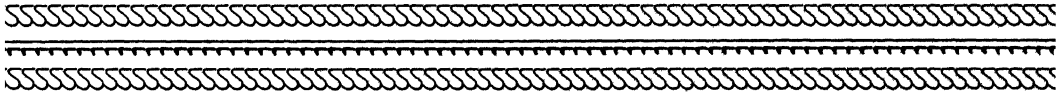
सन्दर्भ - सूची

प्राथमिक श्रोत:

1. कबीर ग्रन्थावली - (सं0) श्याम सुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, बीसवाँ संस्करण ।
2. कबीर ग्रन्थावली - (सं0) पारसनाथ तिवारी, हिन्दी साहित्य परिषद् इलाहाबाद, संस्करण 1962
3. कवितावली - तुलसीदास, रामनरायण लाल, बेनी माधव, द्वितीय संस्करण-1979
4. गीतावली - तुलसीदास, गीता प्रेस, गोरखपुर दशम संस्करण ।
5. जायसी ग्रन्थावली - (सं0) रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1949 ई0 ।
6. दोहावली - तुलसीदास, गीता प्रेस, गोरखपुर, तेइसवाँ संस्करण ।
7. रामचरित मानस - तुलसीदास, गीता प्रेस, गोरखपुर, तेइसवाँ संस्करण ।
8. सूरसागर सार - (सं0) धीरेन्द्र वर्मा, साहित्य भवन प्रा0 लिमिटेड, इलाहाबाद, 1998 ई0
9. विनय पत्रिका - तुलसीदास, गीता प्रेस, गोरखपुर, बीसवाँ संस्करण।

<u>द्वितीयक श्रोतः</u> (भक्ति कवियों पर लिखे समीक्षात्मक एवं सहायक ग्रन्थ)

10.	अशोक के फूल	-	हजारी प्रसाद द्विवेदी, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1950
11.	आधुनिक भारत में जातिवाद तथा अन्य निबन्ध	-	प्रो0 एम0एन0 श्रीनिवास, एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बम्बई - 1981
12.	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना	-	रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-1973
13.	इतिहास और आलोचना	-	डा0 नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई-दिल्ली, पहला संस्करण 1957
14.	इतिहास और आलोचक दृष्टि	-	डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद - 1982
15.	उत्तर भारत की संत परम्परा	-	परशुराम चतुर्वेदी, भारती भण्डार, इला0 संवत् 2021
16.	कबीर साहित्य की भूमिका	-	रामरतन भटनागर, रामनरायण लाल इलाहाबाद 1950
17.	कबीर साहित्य की परख	-	परशुराम चतुर्वेदी, भारती भण्डार, इलाहाबाद।
18.	कबीर एक अनुशीलन	-	रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन प्रा0 लिमिटेड, इलाहाबाद 1983

19. कबीर की विचारधारा - गोविन्द त्रिगुणायत, साहित्य निकेतन, कानपुर, पंचम संस्करण 1981

20. कबीरं का रहस्यवाद - रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन प्रा0 लिमिटेड, इलाहाबाद 1972

21. कबीर का सामाजिक दर्शन - डा0 प्रहलाद मौर्य, महेश त्रिपाठी, पुस्तक संस्थान कानपुर, प्रथम संस्करण ।

22. कबीर पुनर्पाठ/ पुनर्मूल्यांकन - (सं0) परमानन्द श्रीवास्तव, अभिव्यक्ति प्रकाशन, 2001

23. कबीर - हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1990

24. कबीर आधुनिक संदर्भ में - डा0 राजदेव सिंह, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1971

25. कला साहित्य और संस्कृति - ई0एम0एस0 नम्बूदरीपाद, पीपुल्स लिटरेसी, नई दिल्ली 1982

26. कृष्ण काव्य की परम्परा और सूरदास - मैनेजर पाण्डेय, मैकमिलन प्रकाशन, नई - दिल्ली 1982

27. कृष्णकाव्य में सौन्दर्य बोध एवं रसानुभूति - मीरा श्रीवास्तव, साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1976

28. कृष्ण काव्य और सूर - प्रेमशंकर, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद ।

29. गोस्वामी तुलसीदास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

30. चिन्तामणि भाग-एक - रामचन्द्र शुक्ल, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग 1950 ई0

31. जायसी - विजयदेव नारायण साही, हिन्दुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद - 1983

32. जायसी एक नव्यबोध - अमर बहादुर सिंह, साहित्य कुटीर, लखनऊ संवत् - 1979

33. तुलसी संदर्भ और समीक्षा - (सं0) त्रिभुवन सिंह, तुलसी शोध संस्थान काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-1976

34. तुलसी आज के संदर्भ में - युगेश्वर, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद - 1969

35. तुलसी दर्शन - बलदेव प्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संवत 2005

36. तुलसी की काव्य कला - भाग्यवती सिंह, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा, 1962

37. तुलसी आधुनिक वातायन से - रमेश कुन्तल मेघ, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण - 1973

38. तुलसी नव मूल्यांकन - रामरतन भटनागर, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद-1971।

39. तुलसी की साधना - विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं0 2015

40. तुलसी साहित्य साधना - डा0 लल्लन राय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण - 2002

41. तुलसी का मानवतावाद - अरुण प्रकाश मिश्र, अंकुर प्रकाशन, शाहदरा, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1986

42. दूसरी परम्परा की खोज - नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण - 1982

43. निर्गुण साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि - डा0 मोती सिंह, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी ।

44. निर्गुण स्कूल आफ हिन्दू पोयट्री 1936 - पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, (हिन्दी अनुवाद - हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, डा0 भगीरथ मिश्र, लखनऊ, 1968)

45. निर्गुण राम भक्ति और दलित जातियाँ - डा0 राजदेव सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 1998

46. निर्गुण भक्ति काव्य में ब्रह्म, जीव, जगत् और माया - राजदेव सिंह लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

47. परम्परा का मूल्यांकन - रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1981

48. भारतीय चिंतन परम्परा - के0 दामोदरन्, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण 1979

49. भक्ति चिंतन की भूमिका - प्रेम शंकर, साहित्य भवन प्रा0 लिमिटेड, इलाहाबाद - 1977

50. भक्ति काव्य का समाज शास्त्र - प्रेम शंकर, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा0 लिमिटेड, नई दिल्ली, 1990

51. भक्ति काव्य की भूमिका - प्रेम शंकर, राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण - 1993

52. भक्ति आन्दोलन एवं सूरदास का काव्य - मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1993

53. भाषा और संवेदना - प्रो0 रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद - 1964

54. भक्तिकाल और हिन्दी आलोचना - डा0 अभय शुक्ल, साहित्य प्रकाशन प्रा0 लिमिटेड, इलाहाबाद - 2000

55. भक्ति काव्य के सामाजिक आयाम - लक्ष्मी नारायण वर्मा, संत प्रकाशन, इटावा - 1987

56. भक्ति आन्दोलन एवं भक्ति काव्य - शिव कुमार मिश्र, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद - 1999

57. भक्ति आन्दोलन का अध्ययन - रतिभानु सिंह नाहर, किताब महल, इलाहाबाद - 1965

58. भक्ति आन्दोलन एवं लोक संस्कृति - (सं0) कुँवरपाल सिंह, अनंग प्रकाशन, दिल्ली - 2002

59. भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य पर मुस्लिम प्रभाव - असद अली, एस0ई0एस0 एण्ड कम्पनी, दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1971

60. मुक्तिबोध रचनावली - (सं0) नेमिचन्द्र जैन, राजकमल प्रकाशन प्रा0 लिमिटेड, दिल्ली 1980

61. मध्यकालीन प्रेम साधना - परशुराम चतुर्वेदी, साहित्य भवन प्रा0 लिमिटेड, इलाहाबाद - 1952

62. मध्यकालीन बोध का स्वरूप - हजारी प्रसाद द्विवेदी

63. मध्ययुगीन निर्गुण चेतना - धर्मपाल मैनी, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद - 1972

64. मानस दर्शन - श्री कृष्ण लाल, आनन्द पुस्तक भवन, वाराणसी ।

65. मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में सांस्कृतिक संबंध - डा0 अब्दुल बिस्मिल्लाह, हिन्दुस्तान एकेडमी इलाहाबाद - 1985

66. मध्ययुगीन सगुण एवं निर्गुण हिन्दी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन - डा0 आशा गुप्ता, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग - 1970

67. मुक्तिबोध का साहित्य विवेक और उनकी कविता - डा0 लल्लन राय, मंथन प्रकाशन, रोहतक ।

68. मुलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य - शिवसहाय पाठक, साहित्य भवन प्रा0 लि0, इलाहाबाद - 1976

69. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन - सत्येन्द्र, विनोद प्रस्तक मंदिर, आगरा, 1960

70. मध्ययुगीन कृष्ण काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति - हरगुलाल भारतीय साहित्य प्रकाशन, दिल्ली-1967

71. मध्यकालीन काव्य में भारतीय संस्कृति - मदन गोपाल गुप्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली - 1968

72. रामकथा उत्पत्ति और विकास - कामिल बुल्के, हिन्दी परिषद् प्रकाशन, इलाहाबाद - 1971

73. रामचन्द्र शुक्ल (नया-दृष्टिकोण) - नीलकान्त, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1985

74. रामकाव्य और तुलसी (सांस्कृतिक संदर्भ में) - प्रेम शंकर, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई - दिल्ली - 1977

75. लोकवादी तुलसीदास - विश्वनाथ त्रिपाठी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई- दिल्ली, 1974

76. समाजशास्त्र के सिद्धान्त - डा0 डी0आर0 सचदेव, विद्याभूषण, किताब महल, इलाहाबाद ।

77. साहित्यिक निबंध - (सं0) डा0 त्रिभुवन सिंह, हिन्दी प्रचारक संस्थान वाराणसी, 1970

78. संत काव्य की सामाजिक प्रासंगिता - डॉ0 रवीन्द्र कुमार सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली - 1994

79. संतों की सहज साधना - डा0 राजदेव सिंह, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद - 1976

80. संतों का भक्ति योग - डा0 राजदेव सिंह, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी - 1968

81. शब्द और अर्थ (संत-साहित्य के संदर्भ में) - डा0 राजदेव सिंह, नन्द किशोर ब्रदर्स, वाराणसी, 1967

82. सूर साहित्य - हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ, रत्नाकर लिमि0 हीराबाग, बम्बई, 1956

83. सहज साधना - हजारी प्रसाद द्विवेदी, मध्य प्रदेश शासन साहित्य परिषद, भोपाल, संवत् 2020

84. सूर और उनका साहित्य - हरवंश लाल शर्मा, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़ - 1954

85. सूफीमत साधना और साहित्य - रामपूजन तिवारी, ज्ञान मण्डल, वाराणसी, संवत् 2013

86. साहित्य और इतिहास दृष्टि - मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1993

87. सूरसागर शब्दावली का सांस्कृतिक अध्ययन - निर्मला सक्सेना, हिन्दुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद - 1962

88. संत कबीर - रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन प्रा0 लिमिटेड इलाहाबाद - 1944

89. सूर की काव्य चेतना - बलराम तिवारी, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद - 2001

90. संत सुधासार - मुनि राम सिंह खण्ड-एक

91. संत कवि दरिया, एक अनुशीलन - (सं0) धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी

92. सूर साहित्य का मनोवैज्ञानिक विवेचन - शैल. बाला अग्निहोत्री, अभिलाषा प्रकाशन, कानपुर - 1977

93. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत 2051 वि0

94. हिन्दी का मराठों संतों की देन - (सं0) डा0 विनय मोहन शर्मा।

95. हिन्दी साहित्य की भूमिका - हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण - 1991

96. हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास - हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, मूल संस्करण, 1952

97. हिन्दी साहित्य का इतिहास - डा0 नगेन्द्र सिंह, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली ।

98. हिन्दी साहित्य, युग और प्रवृत्तियाँ - डा0 शिव कुमार शर्मा, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, सत्रहवाँ संस्करण-2001

99. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास - रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद - 1986

100. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास - बच्चन सिंह, अंकुर प्रकाशन, दिल्ली संस्करण 1996

पत्र - पत्रिकायें:-

101. आलोचना - (सं0) डा0 नामवर सिंह

102. कसौटी - (सं0) नन्द किशोर नवल

103. अभिनव कदम - (सं0) जय प्रकाश धूमकेतु

104. हिन्दी कलम, अंक 2-3 (इतिहास अंक) - (सं0) नीलकांत

105. पहल (इतिहास लेखन विशेषांक) - (सं0) ज्ञानरंजन

106. तद्भव-अंक-6 - (सं0) अखिलेख